# युग की पुकार अनसुनी न करें

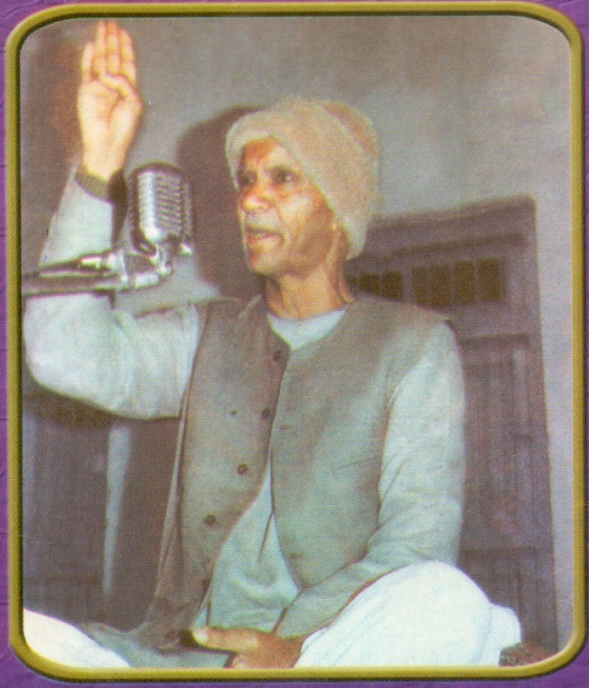

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

# युग की पुकार
# अनसुनी न करें

❋

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

❋

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१० मूल्य : ३०.०० रुपये

# दो शब्द

हमारे सामने एक नया युग चला आ रहा है, इसमें अब संदेह की कुछ भी गुंजाइश नहीं रह गई है। संसार में जैसी घोर हलचल मची हुई है, संपत्ति, साधनों और भौतिक ज्ञान की असीम वृद्धि के होते हुए मानव-जीवन जिस प्रकार अधिक अशांत और असंतुष्ट बनता जाता है, "मानव मात्र एक है" के तथ्य को समझते हुए भी विभिन्न राष्ट्रों और जातियों के मतभेद जिस प्रकार तीव्र होते जाते हैं, उससे विदित होता है कि हमारे भीतर, मनुष्य-समाज के भीतर कोई ऐसी गहरी खराबी पैदा हो गई है, जो हमारे सहयोग-सामंजस्य को एक सूत्र बनने के प्रयत्नों को सफल नहीं होने देती और अनेक विषयों में आश्चर्यजनक प्रगति होते हुए भी हमें सर्वनाश की विभीषिका के निकट घसीटे लिए जा रही है।

इस परस्पर विरोधी स्थिति का प्रधान कारण यही है कि हमने भौतिक ज्ञान-विज्ञान में जितनी प्रगति की है, उसके मुकाबले में अध्यात्म-ज्ञान और व्यवहार के क्षेत्र में हम कुछ भी आगे नहीं बढ़े, इतना ही नहीं उलटा पीछे हट गये हैं। इससे हमारे भीतर व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना पूर्वापेक्षा बलवती होती जाती है और नवीन वैज्ञानिक उन्नति से लाभ उठाने के लिए जिस सामूहिक भावना की, भ्रातृत्व की, मनोवृत्ति की आवश्यकता है; उसका उदय होने नहीं पाता। यही कारण है कि जिन वैज्ञानिक आविष्कारों से यह पृथ्वी स्वर्ग बन सकती थी, वे ही मानव-सभ्यता को जड़-मूल से नष्ट करने की आशंका उत्पन्न कर रहे हैं।

इस पुस्तक में इसी समस्या पर 'मानव मात्र एक' की भावना से, भारतीय अध्यात्म के दृष्टिकोण से विचार करके बतलाया गया है कि हम किस प्रकार सर्वनाश की इस चुनौती का सामना कर सकते हैं ?

**—प्रकाशक**

# विषय-सूची


१ समय की चुनौती हमें झकझोरती है ४
२. वसुधैव कुटुंबकम्—हमारी गतिविधियों का मूल प्रयोजन ६
३. चुनौती हमें स्वीकार है १६
४. कायरता और भीरुता का कलंक स्वीकार नहीं ३०
५. साहस समेटकर सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाएँ ४४
६. हम साहस करें और प्रगति पथ पर आगे बढ़ें ५४
७. दुर्बुद्धि की इस प्रतारणा को हम नहीं तो कौन रोकेगा ? ६६
८. प्रतिभाएँ कुमार्गगामी न होने दी जाएँ ७८
९. संपत्तियाँ नहीं, विभूतियाँ श्रेयस्कर हैं ९२
१०. विभूतियों को सत्पथगामी बनना पड़ेगा ९६
११. प्रतिभाएँ आगे आएँ और कमान सँभालें ११४
१२. संपदाएँ और प्रतिभाएँ अपनी दिशा बदलें १२६
१३. प्रतिभाओं का लोक-मंगल क्षेत्र में पदार्पण अनिवार्य १४२
१४. अंतःकरणों का मर्मस्थल अपनी दिशा बदले १५०

# युग की पुकार जिसे सुना ही जाए

## समय की चुनौती हमें झकझोरती है

इस युग की महानतम आवश्यकता है—व्यक्ति के वर्तमान स्तर में आमूलचूल परिवर्तन। जिस मनोदशा, आकांक्षा, आस्था और कार्य-पद्धति को लेकर हम चल रहे हैं, वह हर कसौटी पर खोटी सिद्ध हो रही है। प्रगति की आशा बहुत करते हैं, पर लगती है हाथ—अप्रगति ही। सुख प्राप्ति करने की योजनाएँ बनती हैं, पर परिणाम पल्ले बँधना ही दुःख है। इस विपर्यय का कारण एक है—हमारी दिशा का उलटी हो जाना। कुछ ऐसे मति भ्रम के वातावरण में इन दिनों मनुष्य-समाज को रहना पड़ रहा है, जिसमें वस्तुस्थिति सूझ नहीं पड़ती वरन् उचित को अनुचित और अनुचित को उचित अनुभव करने की विडंबना ने जनमानस को आच्छादित कर लिया है।

"सादा जीवन-उच्च विचार" का कितना सरल, सौम्य और शुचिता भरा आदर्श है, जिसे बिना किसी अड़चन के अपनाया जा सकता है। अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी जिस आधार पर मोद-मंगल मनाते हुए आनंद-उल्लास का जीवन जिया जा सकता है। सादा जीवन कितना हल्का, कितना सरल, कितना मधुर और कितना सस्ता होता है, इसे कौन नहीं जानता ? पर देखते यही हैं कि हर व्यक्ति खर्चीला, बनावटी, कृत्रिम, ढोंगी, उच्छृंखल और बचकाना रहन-सहन अपनाने में व्यस्त है। बनावट के द्वारा वह

दूसरों पर अपने बड़प्पन की छाप डालने की बालक्रीड़ा में व्यस्त है, जबकि सच बात यह है कि जो जितने आडंबर बनाता है, वह दूसरों की आँख में अपना उतना ही हल्कापन, ओछापन सिद्ध करता है।

उच्च विचार कितने सुखद होते हैं, इसका अनुभव करके कोई भी देख सकता है। उन विचारों से अपना अंतःकरण हर घड़ी उल्लसित रहता है, संतोष और आनंद का, पवित्रता और सौम्य-सात्त्विकता का निर्झर भीतर से ही फूटता रहता है। उसकी शीतलता से अपना रोम-रोम शांति अनुभव करता है। संयम, सदाचार से शारीरिक और मानसिक बल में आश्चर्यजनक वृद्धि होती है। प्रेम और सद्भाव भरी विचारणा दूसरों को अपना बना लेती है। चारों ओर मित्र, शुभचिंतक, हितैषी, सहयोगी और प्रशंसक ही घिरे दिखाई पड़ते हैं। उच्च विचारणा निरंतर एक ही प्रेरणा देती है सत्कर्म करने की, कर्तव्यपालन में तन्मय रहने की। यह प्रेरणा जिस क्रिया-पद्धति को जन्म देगी, वह अपने लिए, अपने परिवार के लिए और समस्त समाज के लिए सत्परिणाम ही उत्पन्न करने वाली होंगी।

इन तथ्यों को कौन नहीं जानता ? फिर भी जो देखा जाता है, वह विचित्र है। हर व्यक्ति फैशन, शृंगार, बनावट, ढोंग, शेखीखोरी के जाल-जंजाल बुनने में लगा है और ओछे ढंग से बड़ा आदमी समझे जाने के भ्रम में पैसा पानी की तरह बहा रहा है। पैसा ही नहीं, सरलता और सज्जनता भी उसे खोनी पड़ती है। वाणी या व्यवहार से ही सही, जो दूसरों पर हर तरीके अपनाकर अपना रौब गाँठना चाहता है, वह अभीष्ट स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता; वरन् घृणा और उपहास का पात्र बनता है, किंतु इस सच्चाई पर कौन विश्वास करता है ? जहाँ नजर पसारकर देखते हैं, ढोंग भरा जाल-जंजाल बिछा दीखता है। ओछापन इतना ज्यादा बढ़ गया है कि उसे छिपाने के लिए रंग-बिरंगे आवरणों की बेहद

जरूरत अनुभव की जाती है। बढ़ती हुई कृत्रिमता मनुष्य की सच्चाई और सरलता को एक प्रकार से खाये ही जा रही है।

निकृष्ट विचारों को अपनाकर हम विविध-विध अनाचारों और अपराधों को जन्म दे रहे हैं। मनः-क्षेत्र में डेरा डाले पड़े हुए वासना—तृष्णा, लालच, छल-प्रपंच, ईर्ष्या-द्वेष, मद-मत्सर के विचार, दूसरों का अहित करके भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने में प्रवृत्त रहते हैं। इन मनोवृत्तियों से केवल अपना ही सामयिक लाभ प्रधान रहता है, अपने दुर्व्यवहार से औरों की कितनी क्षति होगी, उन्हें कितना कष्ट, असंतोष होगा, यह तो सूझ ही नहीं पड़ता। इस प्रकार की संकीर्ण स्वार्थपरता व्यक्ति को स्वयं आत्म-ग्लानि, आत्म-प्रतारणा, क्षोभ, असंतोष, उद्वेग और पश्चात्ताप की आग में जलाती है। ऐसे द्वेष, दुर्भाव भरे अंतःकरणों में संतोष और उल्लास कहाँ ? लुहार की दुकान की तरह घन-चोट से उत्पन्न कर्णकटु ध्वनि और उठती हुई आग की चिनगारियाँ—यही दो बातें सुनने-देखने को मिलती हैं। ऐसे लोगों की समस्त कृतियाँ दूसरों को सताती, रुलाती, गिराती और विनाशती हुई पाशविक अट्टहास करती रहती हैं। इन परिस्थितियों से जिस प्रकार का वातावरण बनेगा, उसमें भला कोई सुख-शांति से रह सकेगा ?

मनुष्य ने सादा जीवन-उच्च विचार की परम मंगलमयी आस्था को तिलांजलि देकर ढोंगी जीवन और निकृष्ट विचारों को जो अपना आदर्श बनाया, उसमें उसने क्या पाया ? निरंतर खोता ही चला आ रहा है और जो कुछ शेष है, लगता है उसे भी खोकर ही रहेगा। हमारे पारस्परिक व्यवहार कितने रूखे और निष्ठुर होते चले जा रहे हैं, मानो दूसरों का अस्तित्व केवल हमारे निकृष्ट स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही बना है। जो भी हमारे स्वार्थों में बाधक बनता हो, वही दुश्मन दीखता है। क्रिया की प्रतिक्रिया, ध्वनि की प्रतिध्वनि को रोका नहीं जा सकता। एक का अनाचार दूसरे में वैसा ही अनुकरण करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। क्रमशः यह दुष्प्रवृत्तियाँ सारे समाज में फैलती हैं और एक-दूसरे में

रक्त-पिपासा तथा विविध-विधि क्लेश, कलह, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा, आक्रमण, अपराध, छल, प्रपंच और दुष्ट-दुर्व्यवहारों का सृजन करती चली जाती हैं। इन स्थितियों में संसार नरक ही बनेगा—समाज में शोक-संताप भरी अधःपतन की ओर धकेलती-घसीटती ले चलने वाली परिस्थितियाँ ही उत्पन्न होंगी। यही हो भी रहा है। जो परिस्थिति आज है, उसे देखते हुए लगता है कि अब यह दुनिया मनुष्य के लायक रह न जायेगी। यहाँ भेड़िये और तेंदुए ही एक-दूसरे को फाड़ खाने और एक-दूसरे का खून पीने के लिए शेष रह जायेंगे।

यह अवांछनीय परिस्थितियाँ मानवीय महानता के लिए एक अभिशाप है। जिन्हें मानवता से प्यार है, जो उसे जीवित और समर्थ देखना चाहते हैं, उनके लिए समय की चुनौती है कि इस पतन-प्रवाह को रोकें। उनके लिए युग की पुकार है कि इस सर्वग्राही-सत्यानाशी विपर्यय का प्रतिरोध करें। विवेक कहता है कि यह मतिभ्रम इसी गति से चलता रहा तो चिरसंचित और चिरसिंचित मानवीय सभ्यता का लोप हो जायेगा और यहाँ पशुता एवं पैशाचिकता के अतिरिक्त और कुछ शेष न रह जायेगा।

बुद्धि विपर्यय के सर्वग्राही प्रवाह को रोकने के लिए हमें कुछ बड़े और साहसपूर्ण कदम उठाने होंगे। एक ऐसी व्यापक योजना लेकर चलना पड़ेगा, जिसके अनुसार जन मानस के वर्तमान स्तर एवं आधार को परिवर्तन करने की संभावना साकार की जा सके। व्यक्ति को आज गलत ढंग से सोचने से रोका जाए और उस विचारणा में प्रवृत्त किया जाए, जिसे अपनाकर यह देश स्वर्गीय परिस्थितियों का आस्वादन करता रहा और यहाँ के नागरिकों ने अपने देवोपम चरित्र द्वारा समस्त संसार का मार्गदर्शन किया। आज की यही एकमात्र आवश्यकता है। इसे पूरा किया ही जाना चाहिए। बड़े लोग राजसत्ता, सैन्य-संचय, अर्थ-उपार्जन और चातुर्य-कौशल की बात सोचते हैं और इधर ध्यान नहीं देते, तो कुछ हर्ज की बात नहीं। उन्हें अपना काम करने देना चाहिए। आखिर हम छोटे लोगों

का भी तो कोई उपयोग होना चाहिए। हमें भी तो कुछ करना चाहिए। 'विचारक्रांति' का लक्ष्य लेकर एक छोटा वर्ग आगे बढ़े और अपनी क्रिया-पद्धति को कार्यान्वित करने के लिए कुछ त्याग, बलिदान कर दिखाये, तो यह भी एक औचित्य ही है। अपना एक छोटा परिवार, छोटा वर्ग इसी दिशा में गतिशील हुआ है। हम छोटे हैं, साधन हमारे नगण्य हैं, फिर भी हमारा लक्ष्य महान् है। जन-मानस का भावनात्मक नव-निर्माण करने की हमारी आकांक्षा, चेष्टा एवं प्रवृत्ति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसकी तुलना में निर्माण के नाम पर किये जाने वाले समस्त क्रियाकलापों को निछावर किया जा सकता है।

जनमानस का भावनात्मक नव-निर्माण करना हमारा लक्ष्य है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए जो शतसूत्री कार्यपद्धति निर्धारित की गई है, उसी का नाम 'युग-निर्माण योजना' है। युग-निर्माण योजना 'विचार-क्रांति' का उद्देश्य लेकर बनाई गई है। जन-मानस में सादा जीवन-उच्च विचार का आदर्श हम समावेश करना चाहते हैं और आज की स्वार्थ-संकीर्णता वाली लोक-प्रवृत्ति का उन्मूलन करने के लिए कटिबद्ध हैं। आज की विचारधारा, अभिरुचि, आकांक्षा एवं आस्था की दिशा बदली ही जाने योग्य है। वह अवांछनीय है और असह्य भी। इसे देर तक प्रचलित नहीं रहने दिया जा सकता। परिवर्तन आवश्यक है, उसे लाया जायेगा। मनुष्यता से विरत मानव को अपनी महानता से परिचित कराया जाएगा, उसे आदर्श अपनाने और उत्कृष्टता का अवलंबन करने के लिए कहा-समझाया ही नहीं, विवश भी किया जाएगा। यही हैं वे प्रयोजन, जिनकी पूर्ति के लिए हम अपने परिवार के समस्त सजग और समर्थ परिजनों के साथ तत्परतापूर्वक संलग्न हैं।

❐ ❐

# वसुधैव कुटुंबकम्—
# हमारी गतिविधियों का मूल प्रयोजन

नवयुग का अवतरण होने ही वाला है। भगवान् उसके लिए सौम्य परिस्थितियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। हम लोग ईश्वर की इसी इच्छा को पूर्ण करने में प्राणप्रण से लगे हुए हैं। भूतकाल का हमारे जीवन का सारा क्रियाकलाप इसी की पृष्ठभूमि बनाने में बीता है और अगले सूक्ष्म शरीर के जीवन का जितना समय शेष है, वह भी इस प्रयोजन में समर्पित है। जिस विशिष्टतम साधना के लिए हम अविज्ञात आवरण में जा रहे हैं, उसका उद्देश्य नवनिर्माण के अनुरूप व्यक्तित्वों एवं परिस्थितियों का सृजन करना ही है। तप से ही वह प्रचंड शक्ति उत्पन्न होती है, जो जनमानस की दिशा मोड़ सके। अज्ञानांधकार की तमिस्रा में डूबी हुई दिग्भ्रांत लोक-चेतना को प्रगति के राजमार्ग पर अग्रसर करने के लिए जिस प्रकाश और जिस बल की आवश्यकता होती है, उसे तप-साधना से ही उत्पन्न किया जाता रहा है।

सगर पुत्रों को शोक-संताप की आग में जलते रहने से उबारने के लिए भगवती गंगा का अवतरण आवश्यक था। भागीरथी तपस्या ने उस कठिन कार्य को असंभव से संभव बनाया, इतिहास की पुनरावृत्ति अब फिर होने जा रही है। ज्ञान गंगा का अवतरण आज की परिस्थितियों में आवश्यक है। विचार क्रांति की धारा इसी प्रयोजन को पूरा करेगी। अन्य युगों में भगवान् ने किसी भी कलेवर में अवतार लिया हो—इस युग में उन्हें व्यापक विवेक के रूप में अवतरित होना है। हमारे व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयत्नों का, विचारणा और प्रक्रिया का, अस्तित्व और व्यक्तित्व का उद्देश्य भी यही है। जन आंदोलन और तप संधान दोनों ही गतिविधियाँ साथ लेकर दोनों कदम आगे बढ़ रहे हैं। हमारा परिवार दैनिक २४०० लक्ष गायत्री पुरश्चरण में संलग्न है। हम अपनी विशेष तपश्चर्या पूर्ण कर चुके हैं। दोनों ही पक्ष मिलकर एक ऐसा अभिनव सूक्ष्म

वातावरण उत्पन्न करेंगे, जिससे युग-परिवर्तन की उपयुक्त परिस्थितियाँ विश्व-चेतना के अंतराल में उद्‌भूत हो सकें। जन-आंदोलन की स्थूल प्रक्रिया का सूत्र संचालन शांतिकुंज और मथुरा से हो रहा है और शतसूत्री कार्यक्रमों के आधार पर हजारों शाखाओं से संगठित एवं संबंधित करोड़ों व्यक्ति उस प्रयोजन की पूर्ति में अपने-अपने ढंग से संलग्न हैं। नवनिर्माण का महान् प्रयोजन ईश्वरीय निर्देशों और संकेतों के आधार पर चल रहा है। हमारी गतिविधियों का सूत्र संचालन भी वहीं से हो रहा है।

नवनिर्माण का स्वरूप और तंत्र 'वसुधैव कुटुंबकम्' के आदर्श को व्यावहारिक रूप देने की आधारशिला पर खड़ा किया जा रहा है। मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करने वाली समस्त दीवारें खड़ी की जा रही हैं। समस्त मानव-समाज को एकता एवं आत्मीयता के मुख्य बंधनों में आबद्ध किया जाना है।

नया युग कुछ आदर्शों को लेकर आ रहा है—(१) एकता, (२) समता, (३) शुचिता, (४) ममता। यह सत्प्रवृत्तियाँ जब उमगने और छलकने लगेंगी तो आज प्रत्येक क्षेत्र में संव्याप्त विकृतियों, अव्यवस्थाओं, उलझनों, कुंठाओं एवं समस्याओं का कोई कारण न रह जायेगा और सर्वत्र सुख-शांति एवं समृद्धि भरी स्वर्गीय परिस्थितियाँ परिलक्षित होने लगेंगी।

लगता है यह बहुत कठिन है। विकृतियों से भरे अंधकार युग की लंबी पाँच हजार वर्षों की अवधि में जो अनाचार मानव स्वभाव में सम्मिलित हो गया है, उसने एक परंपरा जैसा रूप धारण कर लिया है। ऐसे व्यामोहग्रस्त लोक-मानस को बदलकर न्याय एवं औचित्य के अनुरूप विवेक सम्मत बनाना निस्संदेह कठिन है पर कठिन काम भी मनुष्यों ने ही किये हैं। ईश्वर की इच्छा और मनुष्यों के प्रबल पुरुषार्थ का सम्मिलित स्वरूप बड़े-बड़े आश्चर्यजनक परिवर्तन उत्पन्न करता रहा है। आगे भी उसकी पुनरावृत्ति होनी है। यह कठिन भले ही लगे परंतु असंभव नहीं है।

नये विश्व का नया निर्माण एकता, समता, शुचिता और ममता की चार आधारशिलाओं पर निर्भर है। इन चारों को संसार के कोने-कोने में, विभिन्न देशों और विचारों के व्यक्तियों में अलग-अलग ढंग से प्रतिष्ठापित, परिपुष्ट एवं फलित किया जा रहा है। भारत में शतसूत्री योजना के आधार पर यहीं की परिस्थितियों के अनुरूप उपरोक्त चार प्रक्रियाओं का संचालन किया जा रहा है।

चार आधार में प्रथम है, एकता। जड़ पदार्थ एक और एक मिलकर दो होते हैं, पर जीवित व्यक्ति 'एक और एक मिलकर ग्यारह' होने की उक्ति चरितार्थ करते हैं। एकता की सुदृढ़ श्रृंखला में पिरोये हुए मनुष्य हार में गुथे हुए मोतियों की तरह सुंदर लगेंगे और उनकी शोभा से सारा वातावरण सुरभित हो उठेगा।

मनुष्य की शक्ति एकता से ही बढ़ेगी। समाज की उन्नति एकता पर निर्भर है। विश्व में शांति की स्थापना के लिए एकता नितांत आवश्यक है। यह एकता हमारे चतुर्विध नवनिर्माण प्रयोजनों में सर्वप्रथम है। एकता, समता, शुचिता और ममता का लक्ष्य प्राप्त करना ही नवनिर्माण है। वर्तमान अव्यवस्थाओं के स्थान पर चतुर्विध सुव्यवस्थाओं की स्थापना ही युग परिवर्तन है। इस पुण्य प्रयोजन के लिए अग्रसर होते हुए हमें विश्वव्यापी एकता के लिए कठोर प्रयत्न करना होगा। कहा जा चुका है कि एकता के चार स्तंभ हैं—धर्म, संस्कृति, भाषा और शासन इनके बीच जो खाइयाँ बन गई हैं, उन्हें पाटना है। विभिन्नताओं के निराकरण का, अनेकता की एकरूपता के लिए प्रयत्न करना है। यही हमारी युग-निर्माण योजना का सारांश है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए भारत में हिंदू धर्मानुयायी जनता को जो करना है, उसका एक शतसूत्री कार्यक्रम हम लोगों के जिम्मे आया है। इससे मिलती-जुलती, विभिन्न देशों और समाजों की स्थिति के अनुरूप संसार भर में अन्यत्र भी योजनाएँ बनी हैं और नव-निर्माण के अग्रदूत उन्हें अपने-अपने ढंग से कार्यान्वित कर रहे हैं। योजना के स्वरूपों में अंतर है। पर

आधार सबका एक है। एकता, समता शुचिता और ममता का व्यापक विचार करने के लिए ही हमारे कदम आगे बढ़ रहे हैं।

(१) धर्मों की अनेकता क्यों ? जब ईश्वर एक है—उसका संसार एक है—उसके पुत्र एक हैं—ईश्वर का संदेश एक है—उद्देश्य एक है, तो फिर धर्म भी एक ही होना चाहिए। अनेक धर्म, जो परस्पर टकराते हैं—एक-दूसरे का खंडन करते हैं—एक-दूसरे से विपरीत दिशाएँ दिखाते हैं—ईश्वर प्रेरित नहीं हो सकते। हो सकता है सभी के मूल में धर्म की अनादि आस्थाओं का समावेश रहा हो, पर पीछे चलकर उनमें इतने अधिक जंजाल जुड़े कि सत्य से बढ़कर असत्य और विवेक से बढ़कर अविवेक उनमें जुड़ गया। यदि ऐसा न होता तो धार्मिक कहे जाने वाले लोगों का चरित्र एवं स्वभाव तो आदर्श से ओतप्रोत रहा होता। देखने में ऐसा कहाँ आता है ? आज तो हर धर्म, संप्रदाय वाला यह माने बैठा है कि अपने वर्ग की क्रिया-प्रक्रियाओं को अपनाकर उसने धर्म, आस्तिकता और स्वर्ग-मुक्ति का ठेका ले लिया। अपने वर्ग की मान्यताओं को सत्य और दूसरों को असत्य सिद्ध करने के लिए धर्म-ध्वजी सारा बुद्धिकौशल व्यय करते रहते हैं। शास्त्रार्थों के अखाड़ों में आये दिन कुश्तियाँ होती देखी जा सकती हैं। वाक्-बाण और कागजी गोले चले रहते तो भी सहन किया जाता, पर इस वेदी पर कितने निरीह प्राणियों का रक्त निर्दयता के साथ बहता रहा है, इसका स्मरण करके रोमांच हो जाता है। दूसरे धर्म वालों पर अपने धर्म की गरिमा थोपने के लिए इतना नर-संहार अब तक इस दुनिया में हुआ है, जितना समस्त युद्धों में भी नहीं हुआ। क्या यही स्थिति उपयुक्त है ? क्या इसे ही बने रहने देना चाहिए। विभिन्नताओं की उलझनें सत्य तक पहुँचने के लिए भारी बाधा है। आज का धर्म जंजाल इतना उलझा हुआ है कि वह वास्तविक धर्म तक आत्मा को पहुँचने देने में सहायक नहीं, बाधक ही सिद्ध हो रहा है।

विवेक का तकाजा है कि धर्म की एकरूपता होनी चाहिए। समस्त विश्व का एक ही धर्म होना चाहिए। उसमें सत्य, न्याय, नीति-सदाचार, शिष्टाचार, आदर्श, औचित्य, उदारता, स्नेह, सद्भावना, संतोष, संयम जैसी मान्यताओं को प्रश्रय मिलना चाहिए। मानवीय आस्थाओं और प्रक्रियाओं को जो पशुता के स्तर से ऊँचा उठाकर देवत्व की दिशा में विकसित कर सके, वही विश्व-धर्म हो सकता है। अगले दिनों ऐसे ही विश्व धर्म का विकास होना है। संसार के कोने-कोने में रहने वाले एक ही प्रकार के धर्म को मानेंगे। एक ही प्रकार की पूजा पद्धति से सबका काम चल जाएगा। एक ही धर्म-मंच पर सब लोग इकट्ठे हुआ करेंगे। धर्म के नाम पर व्यय होने वाले समय, श्रम तथा धन इन्हीं प्रयोजनों में लगेगा। ऐसा विवेकपूर्ण धर्म, मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम और आत्मीयता उत्पन्न करने तथा अंतःकरण के दिव्य तत्त्वों के उत्कर्ष में सहायक होगा। धर्म के नाम पर विराजमान मूढ़ मान्यताओं और व्यर्थ आडंबरों में लगी हुई आज की ज्ञानवान् शक्ति जब विश्व-धर्म की विवेकसम्मत आदर्शवादी प्रतिष्ठापनों में नियोजित होगी, तब उसके रचनात्मक परिणाम इतने शानदार होंगे कि यह संसार स्वर्ग जैसा दिखाई देने लगेगा।

(२) विश्व संस्कृति की एकता भी वैसी ही आवश्यक है, जैसी विश्व-धर्म की। आज संस्कृति भी धर्म में जुड़ गई है। वस्तुतः वे दोनों अलग हैं। रीति, रिवाज, आचरण, शिष्टाचार, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, तौर-तरीका यही संस्कृति के अंग हैं। इनमें पृथकता रहने से मनुष्य-मनुष्य के बीच पृथकता और परायेपन के भाव उठते हैं। अब इन्हीं आधारों पर जातियाँ बनती चली जा रही हैं। जो लोग अपनी भाषा बोलते हैं, अपने जैसी पोशाक पहनते हैं, वेश-विन्यास रखते हैं, आहार-विहार करते हैं, रीति-रिवाज मानते हैं, उनके साथ सहज स्नेह हो जाता है और भिन्न प्रक्रियाओं वाले पराये लगते हैं। यह अपने-पराये की प्रक्रिया संसार में भारी विद्वेष एवं विश्रृंखलता पैदा कर रही है। भारतवर्ष जाति-पाँति और धर्म, संप्रदायों के नाम

पर इतना अधिक विभक्त है कि सर्वत्र उसकी हँसी उड़ाई जाती है और आत्मिक दुर्बलता में ग्रसित पिछड़ा हुआ देश माना जाता है। यहाँ तक कि राजनीति तक पर जाति-पाँति हावी है। चुनावों में जीतना अब बहुत करके इसी आधार पर होता है। भले ही कोई बाहर से इसका खंडन करे, पर जानते सब हैं कि वस्तुस्थिति यही है।

सुस्थिर मानवीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता आवश्यक है। जीवनयापन की विभिन्न दिशाओं में हमें सार्वभौम एकता स्थापित करनी ही पड़ेगी। पोशाकें इतनी अधिक तरह की न हों, एक ही तरह के वस्त्र सब लोग पहनें, तो कपड़े की सिलाई का तीन चौथाई व्यय बच सकता है और वह बचत शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के संवर्धन में लगाई जा सकती है। त्यौहार की एकता हो तो सारे समाज में एक ही समय एक-सा उल्लास जगता दिखाई पड़े। विवाह-शादियों के रीति-रिवाज एक जैसे सरल और सस्ते हों तो इन व्यर्थ आडंबरों में शक्ति बच जाए और उसका उपयोग परिवारों का स्तर ऊँचा उठाने में किया जा सके। सांस्कृतिक एकता के बिना विश्व-मानव की एकता सुस्थिर न बन सकेगी। विज्ञान और शिक्षा की प्रगति ने संसार को बहुत छोटा बना दिया है। सुदूर द्वीप-महाद्वीप अब गली-मुहल्ले की तरह समीप आ गये हैं। द्रुतगामी वाहनों ने दूरी संबंधी कठिनाइयों को हल कर दिया है। पिछले दिनों जब यह परिस्थितियाँ न थीं, सुदूर देशों के निवासी परस्पर परिचय के अभाव में अलग-अलग ढंग-ढर्रे को, अलग-अलग रीति-रिवाजों को अपनाये रहने के लिए विवश थे। पर अब वैसी परिस्थिति नहीं रही। संसार समीप आ रहा है तो हमारी संस्कृति समीपवादी ही होनी चाहिए। अब पृथकताओं पर अड़े रहने का, अपने को श्रेष्ठ दूसरे को निकृष्ट बताते रहने का कोई कारण नहीं। संसार भर में फैली हुई विभिन्न संस्कृतियों में से चुने हुए सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपयोगी अंश लेकर एक सर्वांगपूर्ण सार्वभौम संस्कृति का निर्माण अब होने ही वाला है। युग की माँग ऐसी ही है।

संसार में किसी भी कोने में रहने वाले व्यक्ति को यह अनुभव करना होगा कि, वह विश्व परिवार का एक घटक है। विश्व संस्कृति की एक इकाई के रूप में ही उसे अपना रहन-सहन एवं प्रथा, परंपराओं को अपनाना है। जिस प्रकार छोटे-छोटे वर्गों में एक ही प्रकार के रिवाज चलते हैं, उसी प्रकार जब समस्त विश्व का एक सम्मिलित वर्ग होगा, एक ही समाज बनेगा, एक ही कुटुंब का आचरण होगा तो प्रथा-परंपराओं में भी एकरूपता उत्पन्न करनी होगी। रुचि भिन्नताएँ रह सकती हैं—कोई बालों में कंघी कैसे करे ? कोई साबुन कौन-सा लगाये, जैसी छुट-पुट वैयक्तिक अभिरुचियों में विभिन्नता रह सकती है। आचार-विचार, व्यवहार और शिष्टाचार की सामान्य रीति-नीति और प्रथा-परंपरा समस्त विश्व में एक जैसी होनी चाहिए।

कहना न होगा कि इस दृष्टि से भारतीय धर्म, अध्यात्म तथा संस्कृति विश्व-मानव की सार्वभौम आवश्यकताएँ पूरी करने में भली प्रकार समर्थ है। पिछले पाँच हजार वर्षों में जो विकृतियाँ उत्पन्न हुई हैं, यदि उन्हें निकाल दिया जाए तो विशुद्ध भारतीय मान्यताएँ इसी स्तर की हैं, मानो किसी ने समस्त मानव जाति के लिए वास्तविकता, उपयोगिता और औचित्य का ध्यान कर ही विनिर्मित किया हो। निकट भविष्य में जिस नवयुग को लाने की साधना चल रही है, वही प्राचीनकाल में चिरकाल तक यहाँ विद्यमान रहा है और एकता, समता तथा ममता की गंगा, यमुना, सरस्वती यहाँ बहती रही है। अस्तु, भारतीयता में विश्व-धर्म एवं विश्व संस्कृति के बीज विद्यमान परिलक्षित हैं तो इसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं है।

(३) विश्वभाषा की आवश्यकता वसुधैव कुटुंबकम् की स्थिति उत्पन्न करने के लिए अनिवार्य है। वह कैसा कुटुंब जिसके सदस्य एक-दूसरे की बोली न समझें, परस्पर बातचीत तक न कर सकें, विचारों के आदान-प्रदान के लिए भाषा ही माध्यम है। भाषाओं की भिन्नता मनुष्य को एक सीमित समाज एवं क्षेत्र में संकुचित करती हैं। विश्व के विशाल ज्ञान भंडार को सरलतापूर्वक उपलब्ध करने,

हर विश्व नागरिक को निर्बाध गति से विचार-विनिमय करने के लिए एक विश्वभाषा की आवश्यकता है। अन्यथा मानवता टुकड़ों में, क्षेत्र और प्रांतों में विभक्त बनी सड़ती-गलती रहेगी। हम भारतवासी एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अनुभव करते हैं, इसी प्रकार यदि विश्व नागरिकता का—'वसुधैव कुटुंबकम्' का विस्तार होता है तो उसके आधार भी तैयार करने होंगे। इन आधारों में एक विश्वभाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

समस्त विश्व के लिए एक ही भाषा में साहित्य छपने लगे तो वह कितना सस्ता और कितना उच्चकोटि का होगा, इसकी कल्पना मात्र से भारी उत्साह पैदा होता है। मनुष्य ने अब तक जो ज्ञान विभिन्न दिशाओं में संचित किया है, वह इतना अधिक है कि उसका उपयोग हमें सहज ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों से लाभान्वित कर सकता है। पर खेद इसी बात का है कि वह ज्ञान भाषाओं की भिन्नताओं के कारण सीमित क्षेत्रों में बंदी बना पड़ा है। यदि एक विश्वभाषा होती तो पुस्तकालयों के माध्यम से ऊँचे से ऊँचा ज्ञान सर्वसाधारण तक सहज ही पहुँच सका होता। संसार भर के लोग परस्पर पत्र-व्यवहार और विचारों का आदान-प्रदान कर सके होते। तब विश्व समस्याओं का हल ढूँढ़ सकना और एक देश के नागरिकों का अन्य देशवासियों के अति निकट पहुँच सकना संभव हो गया होता। विश्व की यह ज्वलंत आवश्यकता हमें पूरी करनी ही होगी। संस्कृत भाषा में यह सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं, वस्तुतः किसी समय वह विश्व-भाषा ही थी और अगले दिनों अपने महान् गुणों के कारण यदि वह पुनः अपना स्थान प्राप्त कर ले तो यह तनिक भी आश्चर्य की बात न होगी।

(४) विश्व शासन ही समस्त राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं का हल कर सकेगा। यातायात के साधनों के अभाव में छोटे-छोटे सामंती राज्य शासनों की आवश्यकता रही होगी, पर अब राष्ट्रवाद भी प्रांतवाद, जातिवाद जैसी ही संकीर्णता का प्रतीक बनता जा रहा है। अपने देश का लाभ करने के लिए, दूसरे देश

का शोषण-उत्पीड़न करना भी अब देश-भक्ति का एक अंग बन चला है। दूसरे देशों के साथ अन्याय करके भी अपने देश का लाभ करने वाला देशभक्तों की पंक्ति में बैठता और सम्मानित होता है। आज की अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति इसी आधार को अपनाए हुए है कि अपने देश का लाभ जैसे भी बने, वैसे किया जाए। युद्धों का मूल कारण यह राष्ट्रवाद के नाम पर पनप रही क्षेत्रीय संकीर्णता ही है। तस्कर व्यापार पनपने का कारण यही है। एक देश के पास उपभोग के पर्याप्त साधन हों और दूसरे देश वाले उससे वंचित रहे। एक क्षेत्र में विपुल-संपन्नता और पड़ौस के क्षेत्र में विपुल विपन्नता रहे, इसका कारण विश्व-वसुधा एवं विश्व वसुंधरा को राष्ट्रवाद के आधार पर कृत्रिम रूप में खंड-खंड कर देना ही है।

यदि यह रेखाएँ मिटा दी जाएँ और समस्त संसार एक राष्ट्र बन जाए, एक शासन के अंतर्गत शामिल हो तो फिर युद्धों-महायुद्धों की विभीषिका सदा के लिए समाप्त हो जाए। एक प्रांत में छोटे-छोटे अनेक जिले होते हैं, उनकी शासन व्यवस्था अलग-अलग रहते हुए भी एक केंद्र से शासित रहती है, अतएव उनमें विग्रह संघर्ष या युद्ध का कभी कोई अवसर नहीं आता। यदि एक विश्व-केंद्र से संसार के समस्त राष्ट्र-शासित हों तो उनके झगड़े विश्व न्यायालय में तय होते रहेंगे। परस्पर लड़ने की कोई संभावना न रहेगी। आशंका, भय और अविश्वास से ग्रसित प्रत्येक राष्ट्र आजकल सुरक्षा के नाम पर जो विपुल धन व्यय कर रहा है, उसकी कोई आवश्यकता न रह जाएगी। आजकल प्रायः एक-चौथाई आय युद्ध-कार्यों की शिक्षा व्यवस्था में लगती है। वह बच जाए तो उतने साधन मानवीय भ्रातृत्व एवं सुख-सुविधा के साधन जुटाने में लगाये जा सकते हैं और देखते-देखते यह संसार स्वर्गीय सुख-शांति से ओत-प्रोत हो सकता है।

विश्व-शासन के अंतर्गत एक ही समाज का सहज विकास हो सकता है। आचार-संहिता, न्याय, नैतिकता के कानून एक से हो सकते हैं। व्यापार की निर्बाधता से गरीबी और अमीरी का, उत्पादन

और अभाव का समान रूप से वितरण हो सकता है और प्रकृति के अनुदानों का समान लाभ उठाते हुए धरती के समस्त निवासी जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति सहज ही कर सकते हैं। उन परिस्थितियों से आज की अगणित समस्याओं का हल जादू की तरह निकल सकता है और जिन शोक-संतापों से आज मानवता पीड़ित है, उनका नाम-निशान मिट सकता है।

विश्व-व्यापी एकता और मानव भ्रातृत्व को एक मधुर कल्पना के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' के आदर्श को एक सरस स्वप्न मात्र माना जाता है। समय आ गया है कि इन कल्पनाओं और स्वप्नों को साकार बनाया जाए। एकता की उपयोगिता एवं आवश्यकता को यदि हम समझते-स्वीकार करते हैं तो उनके आधारों को भी ढूँढ़ना होगा। पलंग के चार पायों की तरह एकता के भी चार स्तंभ हैं—(१) धर्म, (२) संस्कृति, (३) भाषा, (४) शासन। विश्व को एकता के सूत्र में आबद्ध करना हो तो इन चार आधारों में भी सार्वभौम स्तर पर एकता और एकरूपता भी उत्पन्न करनी ही होगी।

❐ ❐

# चुनौती हमें स्वीकार है

नर-पशु और नर-नारायण के बीच एक राई-रत्ती भर का अवरोध है। इच्छा दोनों की ही महत्ता प्राप्त करने की होती है। निकृष्ट स्थिति में कोई नहीं पड़ा रहना चाहिए। श्रेष्ठ सत्पुरुषों की पंक्ति में बैठने का मन सभी चलाते हैं, पर कुछ लोग वैसा कर पाते हैं कुछ नहीं। जो कर पाते हैं और जो नहीं कर पाते उनकी सांसारिक परिस्थितियों में कोई खास अंतर नहीं होता। निर्वाह का प्रश्न दोनों के ही आगे रहता है। पर एक अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण शरीर मात्र की समस्याओं को ही अपनी गतिविधियों का एकमात्र आधार बना लेता है और उन्हीं के गोरख-धंधे में अहर्निश उलझा रहता है। छोटी-छोटी सफलता-असफलताओं पर हर्षोत्थान होता और करुण विलाप करता उद्वेग भरे दिन गुजारता है। निर्वाह की समस्याओं को मस्तिष्क पर इतने बोझिल रूप से जमा लेता है कि वे ही पर्वत जैसी लगती हैं और उन्हीं को हल कर सकना अशक्य हो जाता है, फिर उत्कृष्ट जीवन जीने के लिए जिस प्रकार की गतिविधियों को अपनाना आवश्यक है, उनके लिए अक्सर अवकाश ही नहीं मिलता और जीवन के क्षेत्र एक-एक करके समाप्त होते-होते इहलीला का अंत हो जाता है। 'खाली हाथ आये, खाली हाथ चले' की उक्ति सार्थक करने के अतिरिक्त कोई ऐसा लाभ उन्हें नहीं मिलता, जिसके लिए विदाई की घड़ी में उन्हें संतोष एवं गर्व करने की स्थिति प्राप्त हो। क्लेश, अशांति, उद्वेग और असफलता की खोज ही हर घड़ी मिलती रही। जो मिला उतने से कभी संतोष न हुआ, इसलिए वह उपलब्धि भी एक प्रकार से निरर्थक ही रही।

महानता प्राप्त करने की आध्यात्मिक आकांक्षा भूरि-भूरि सराहने योग्य है, जिसमें इस प्रकार के भाव-तूफान उठते, उमंगते हैं, वही जीवन की सार्थकता का लक्ष्य पूरा कर पाता है। इस

मार्ग का सबसे बड़ा अवरोध है—व्यक्तिगत जीवन की भौतिक महत्त्वाकांक्षाएँ। वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा को जीते बिना कोई व्यक्ति महान् नहीं बन सका। जिसे धन का अति लालच है, जो कमाने, जोड़ने, जमा करने की तृष्णा को सीमाबद्ध नहीं कर सकता, उसकी अतृप्ति ही अहर्निश छाती पर चढ़ी रहती है। आकांक्षा जब धन के लिए ही व्याकुल है तो उसका अन्य दिशा में बढ़ सकना कठिन है। केवल प्रदर्शन के लिए कोई छोटा-मोटा परमार्थ वे यदा-कदा भले ही कर दें। मूल-प्रवृत्ति जब धन के साथ लिपटी हुई है तो विचारणा का सर्वोच्च स्तर उसी के लिए संलग्न रहेगा। लालची व्यक्ति—लोभपाश के बंधनों में इतना जकड़ा रहता है कि उसके पूजा-परमार्थ के निमित्त की जाने वाली विडंबनाएँ भी दूरवर्ती धन लाभ के उद्देश्य से ही होती हैं। आकांक्षा जिधर हो, उससे भिन्न दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं हो सकती। इसलिए महामानव वित्तैषणा को ही पहले पछाड़ते हैं। उनका पहला कदम यही निर्णय करने का होता है कि हमें धनी नहीं बनना, पेट पालने भर के लिए किसी प्रकार कुछ कमा लेने से ही संतोष करेंगे। गरीबी को स्वेच्छापूर्वक वरण कर लेने पर ही अंतःचेतना का यह महत्त्वपूर्ण मर्मस्थल खाली होता है, जो महानता की दिशा में प्रगति करने के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

पुत्रैषणा का कार्य ही काम-वासना है। यह एक ऐसा नशा है, जो विचार शक्ति की बहुमूल्य दिशा को अपने भीतर केंद्रित करता और उसे असंतोष की आग में जलाता रहता है। विवाह होने की बात समझ में आती है। प्रजनन की, गृहस्थ की आवश्यकता को भी समझा जा सकता है, पर असीम अतृप्ति जो न नैतिक है, न वांछनीय, न उपयोगी और न संभव, उस मानसिक कामुकता के जंजाल में असंख्य व्यक्ति पड़े हुए, अपनी चिंतन क्षमता को बरबाद करते रहते हैं। अश्लील साहित्य, गंदे फिल्म कामुकता भड़काने वाले उपन्यास, अर्धनग्न चित्र, फूहड़

प्रसंगों की चर्चा आदि के द्वारा यह कामुक प्रवृत्ति भड़कती है और 'प्रेम' शब्द को कलंकित करने वाली वासना के उफान में हम किसी भोले प्राणी को भावुकता के प्रवाह में बहकाकर सर्वनाश के पथ पर घसीटने और स्वयं उसी गर्त में गिर मरने के लिए ताने-बाने बुनने लगते हैं।

धन की तरह ही इस संसार में एक अनर्गल आकर्षण है—काम वासना का—यह प्रवृत्ति एक मानसिक उद्विग्नता के रूप में विचार शक्ति का महत्त्वपूर्ण भाग उस दिशा में लगाये रहती है, जिसमें लाभ कुछ नहीं—हानि अपार है। जिस प्रकार विभिन्न तृष्णाएँ मनुष्य को असंभाव्य आकांक्षाओं की मृग-तृष्णाओं में भटकातीं, असंतुष्ट और उद्विग्न रखती हैं, उसी प्रकार काम प्रवृत्ति की कामनाएँ एवं आकांक्षाएँ भी असीम, अमर्यादित एवं अतृप्त-अशांत ही बनी रहती हैं। धन की आकांक्षा में कुछ तो मिलने वाला था, पर इससे तो केवल क्षण-विनाश एवं पतन ही पल्ले पड़ता है। इसलिए महामना मनुष्य अपनी प्रवृत्ति को इस दिशा में बढ़ने नहीं देते। दृष्टिशोधन का ध्यान रखते हैं। भिन्न लिंग के प्राणी का सौंदर्य उन्हें प्रिय तो लगता है, पर अवांछनीयता की ओर आकर्षित नहीं करता। इस प्रकार उनकी आकांक्षा और विचारणा का एक महत्त्वपूर्ण अंश नष्ट होने से बच जाता है। उस उधेड़-बुन से दिमाग खाली होने पर उसमें महानता के बीजांकुर बोये जाने और उगाये-बढ़ाये जाने सरल हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा-महत्ता को आध्यात्मिकता के साथ इसीलिए जोड़ा गया है कि अंतः-शक्ति का महत्त्वपूर्ण भाग अवांछनीय दिशा में प्रवाहित होने से रोका और वांछनीय दिशा में नियोजित किया जा सके।

महानता के मार्ग में तीसरा अवरोध है—लोकैषणा का। अधिकांश मनुष्य अपनी यश-कीर्ति के लिए सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करते हैं। उच्च आदर्श के लिए अपने को खपा देने की उत्कृष्टता जिसे अपनानी हो, उसे यश-कीर्ति की कामना से बचना

होगा, अन्यथा उसके कार्य धूर्तता एवं विडंबना से भरे हुए घटिया स्तर के होने लगेंगे। लक्ष्य लोकसेवा नहीं रहेगा, लक्ष्य आत्म-कल्याण का नहीं रहेगा, वरन् आत्म-विज्ञापन का बन जाएगा। जिस क्षेत्र में आत्म-विज्ञापन का अधिक अवसर मिलेगा उसी में मन लगेगा, चाहे वह कार्य निरर्थक ही क्यों न हो ? जहाँ यश-कीर्ति, सम्मान, विज्ञापन की गुंजाइश कम होगी वहाँ से जी उचटेगा; चाहे काम की दिशा कितनी ही महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक क्यों न हो ? भाषण देने वाले अपनी बोलने की कला का, गाने वाले अपने कंठ-स्वर का प्रदर्शन करके वाहवाही लूटने के लिए आतुर देखे जाते हैं। जहाँ भी, जिधर भी, उन्हें इसके लिए अवसर मिलता है, उधर ही लुढ़क जाते हैं।

संस्थाओं के अधिकारी-पदाधिकारी को आत्म विज्ञापन का, परिचय बढ़ाने तथा अपनी महत्ता सिद्ध करने का अवसर मिल जाता है, अतएव पद प्राप्त करने के लिए संस्था के सभी योग्य-अयोग्य व्यक्ति लालायित रहते हैं। जिसे वह उपलब्धि नहीं मिलती या छिन जाती है, तभी वह उसका विरोधी एवं जड़ खोदने वाला बन जाता है। कितने ही लोग केवल इसीलिए नई-नई संस्थाएँ बनाते-चलाते हैं, कि उन्हें उस बहाने आत्म-विज्ञापन का अधिक अवसर मिल जाए। फिर चाहे उनकी वह स्थापना भले ही निरर्थक एवं चल रहे संगठित प्रयत्न को कमजोर ही क्यों न करती हो। ऐसे कौतुक हम रोज ही देखते हैं। अगणित महत्त्वपूर्ण संगठनों और संस्थाओं का पतन प्रायः इसी अंतः-कलह के कारण हो गया कि उसके कार्यकर्ता आत्म-विज्ञापन के लिए, पदाधिकारी बनने के लिए इतने आतुर थे कि उन्हें परस्पर लड़ना और एक-दूसरे को पीछे धकेलना आवश्यक हो गया और उस विद्वेष ने मूल्यवान् संस्था का, महत्त्वपूर्ण मिशन का भारी अहित कर दिया। चुनाव—जहाँ प्रजातंत्र में सत्ता संचालन के लिए आवश्यक होते हैं, वहाँ व्यक्तियों की यश-लोलुपता उन्हें व्यापक फूट फैलाने, जाति, भाषा, प्रांत आदि की

आड़ में सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता को दुर्बल करती जा रही है। विधान सभा, लोक सभा एवं छोटे-बड़े सरकारी पद प्राप्त करने के लिए—लोग न जाने कैसे-कैसे उचित-अनुचित तरीके काम में लाते हैं और उन हथकंडों से देश को उत्थान की ओर नहीं पतन की ओर धकेलने का प्रयत्न करते हैं।

प्रजातंत्र पद्धति से प्रबुद्ध जनमानस इसलिए निराश होता जाता है कि उसमें आत्म-विज्ञापन के लिए लालायित—लोलुप व्यक्तियों को खेल-खेलने और जनता को उल्लू बनाने का अधिक अवसर मिलता है। अधिनायकवाद की उपयोगिता इसलिए समझी जाने लगी है कि उसमें लोकैषणा से पीड़ित दुर्बल-मना व्यक्तियों को अपनी यश-कामना पूर्ण करने के लिए समाज का व्यापक अहित करने की गुंजाइश नहीं रहती।

वस्तु-स्थिति यह ही है कि जनमानस के परिष्कार का एक ही काम महान् लोक सेवकों को करना होता है, उन्हें लोगों की भूलें बतानी पड़ती हैं। अतएव स्वभावतः उन्हें विरोध, प्रतिरोध एवं असम्मान और संघर्षों का सामना करना पड़ता है, जो इसके लिए तैयार हो, वही लोक-सेवा के महान् उद्देश्य को ठीक तरह पूरा करने वाली गतिविधियाँ अपना सकता है। जिसे यश की कामना खाये जाती है, उन्हें तो सस्ती वाहवाही लूटने की ललक लगेगी और वह लोगों की प्रस्तुत मनोदशा का विरोध करके अपने लिए असम्मान मोल लेने का साहस न कर सकेगा। जिसे प्रशंसा प्यारी है, उसे लोक-मानस के साथ बहना पड़ेगा, फिर चाहे उसकी दिशा अवांछनीय ही क्यों न हो। ऐसे व्यक्ति जनता का सही मार्ग-दर्शन नहीं कर सकते। खरी नहीं कह सकते, न सुधार का वह प्रयोजन पूरा कर सकते हैं, जो समय-समय पर महामानवों द्वारा संपन्न किया जाता रहा है।

लोकैषणा, यश-लोलुपता एक ऐसी मानसिक दुर्बलता है, जिससे पीड़ित व्यक्ति न तो अपनी महानता विकसित कर

सकता है और न समाज के लिए उपयोगी बन सकता है। हथौड़े, आरी, रेती, छैनी आदि औजार जिनसे लकड़ी, लोहे की चीजें बनाई-सुधारी जाती हैं, मजबूत लोहे के बने होते हैं। यदि वे कच्ची धातु के बने हों तो कुछ निर्माण करना तो दूर, आरंभिक हलचल में ही अपना अस्तित्व गँवा बैठें। महान् प्रयोजनों के लिए मजबूत धातु के बने महामानव चाहिए। (१) वित्तैषणा (२) पुत्रैषणा, (३) लोकैषणा—तृष्णा, वासना और यश-लिप्सा यह तीनों ही दोष एक से एक बढ़कर मादकता और विनाशकता से भरे हैं। जिनमें इन दोषों का जितना बाहुल्य होगा, वे उतने ही तुच्छताग्रस्त होंगे और उतनी ही कम महानता संपन्न होने की आशा रखी जा सकेगी।

नर-पशु से नर-नारायण बनने के महान् अभियान का हमें भागीदार होना चाहिए। व्यक्ति का शाश्वत स्वार्थ इसी में है और उसकी बुद्धिमत्ता एवं दूरदर्शिता परखे जाने की यही कसौटी है। अच्छा होता हम इस दिशा में कुछ ठोस कदम और बढ़ा सकने में समर्थ हो सके होते। समय की आवश्यकता ऐसे ही महान् व्यक्तियों की है, जो स्वार्थ संकीर्णता की कीचड़ में से थोड़े ऊँचे उठकर देश, धर्म, समाज और संस्कृति के पुनरुत्थान से अपनी विभूतियाँ नियोजित कर सकते। युग की पीड़ा, कसक भरी पुकार उन महामानवों का आह्वान करती है, जो विषम परिस्थितियों को बदलने में समर्थ पुरुषार्थ प्रदर्शित कर सकें। ऐसी आत्माएँ अपने बीच भरी पड़ी हैं, अगणित नर-केशरी प्रचुर प्रतिभा और क्षमता के आगार हैं, उनकी गरिमा यदि इसी दिशा में चल पड़ी होती तो न जाने कितने गजब भरे प्रतिफल सामने आये होते। पर दुर्भाग्य इतना ही है कि धन का लालच, वासना का प्रलोभन और यश-लिप्सा का व्यामोह छोड़ सकने, घटा सकने का मनोबल उपलब्ध कर सकना—इन तुच्छ दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर सकना उनके लिए संभव न हो सका और

वे नर-पशुओं जैसा स्वार्थ संकीर्णता भरा हेय जीवन जीते हुए काल के गाल में पिसने वाले ग्रास मात्र बने रह सके।

आवश्यकता इस बात की है कि प्रबुद्ध आत्माएँ अपनी मूर्च्छा त्यागें और महामानव जीवन के स्वरूप, लक्ष्य, प्रयोजन, कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व के संबंध में गंभीर चिंतन करने के लिए तत्पर हों, इस प्रकार का चिंतन उन्हें एक ही निष्कर्ष पर ले पहुँचेगा कि भेड़-बकरियों जैसा, कीट-पतंगों जैसा पेट और प्रजनन के लिए जिया जाने वाला जीवन उनके लिए अनुपयुक्त है, भले ही उसी घृणित स्तर की जिंदगी सारा जमाना जी रहा हो। महानता मौलिकता चाहती है, वह विवेक के आधार पर ही ऊँची उठती है। आत्मविश्वास के आधार पर उसे प्रेरणा मिलती है और मनस्विता के द्वारा कदमों में गति उत्पन्न होती है। पराया मुख तकने वाले—दूसरों की सलाह—भरोसे बैठे रहने वाले—अवसर की प्रतीक्षा करने वाले लोग—कल्पना-जल्पना ही करते रह सकते हैं, कोई ठोस कार्य नहीं कर सकते। कुछ कर गुजरते वे हैं, जो अपने मौलिक-चिंतन का उपयोग करके अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करते हैं। जिनके लिए आदर्शवादिता केवल कल्पना या मनोविनोद की वस्तु नहीं बनी रहती, वरन् जीवन की एक वास्तविकता एवं आवश्यकता बन जाती है, वे अपने भीतर घुसे प्रचंड साहस का उदय कर सकते हैं, जिसके बल पर अपना मार्ग आप बनाने की, अपनी राह आप चुनने और चलने की प्रतिभा साकार हो सके।

अपने अतीत काल का महान् गौरव जन-मानस में उबलती हुई ऐसी ही मौलिकता और मनस्विता पर ही अवलंबित है। अपना महान् इतिहास ऐसे ही नर-नारायणों के कर्तृत्वों की यशगाथा गाता है। उस गौरव गाथा की आधारशिला अब लुप्त और समाप्त हो गई हो तो यही मानना होगा कि देवत्व का अंश-वंश अब समाप्त हो गया और हम लोग श्वान, श्रृंगाल जैसी शिश्नोदर परायण, निरुद्देश्य, जीवन-पद्धति का वरण करके नर-पशुओं की

जाति-वृद्धि ही कर पा रहे हैं। उदात्त भावनाएँ खो बैठे—निरुद्देश्य और निकृष्ट जीवन में संतोष और रस लेने लगे—आदर्शों के लिए कोई आकर्षण न रहे—उत्कृष्टता के लिए कुछ उत्सर्ग करने की महत्त्वाकांक्षा सो जाए, तो समझना चाहिए कि मनुष्य मर गया। साँस तो लुहार की धौंकनी भी लेती है, अन्न का चर्वण तो चक्की भी करती है, प्रजनन तो दीपक भी करता है और स्वाद के लिए मक्खियाँ भी दौड़-धूप करती रहती हैं। क्या इतना ही कर्तृत्व मनुष्य का होना चाहिए ? मानव जीवन का लेखा-जोखा लेते समय उसकी वंश-वृद्धि और जमाखोरी, अय्याशी, ऐंठ-अकड़, धूर्तता, विलासिता जैसी निष्कृष्ट प्रक्रियाएँ ही गिनी जा सकीं, तो समझना चाहिए बेचारा अभागा प्राणी नर तन की गरिमा को नष्ट और कलंकित कर डालने का ही निमित्त बना। एक अनुपम सौभाग्य और सुअवसर को खोकर उसने अपनी तथा समाज की इतनी बड़ी क्षति की, जिसकी पूर्ति अनंत काल तक पश्चात्ताप करते रहने से भी संभव नहीं।

जीवन के सदुपयोग का प्रश्न सर्वोपरि और सर्वप्रथम है, उसको उपेक्षा के गर्त में नहीं गिरा दिया जाना चाहिए। पेट ही सब कुछ नहीं होना चाहिए। प्रजनन के इर्द-गिर्द ही मक्खियों की तरह नहीं भिनभिनाते रहना चाहिए। चूँकि लोग ओछा जीवन जीते हैं, इसलिए अपने को भी इनका अनुकरण करने के लिए अंधानुयायी नहीं बनना चाहिए। भगवान् ने जो स्वतंत्र चिंतन की बुद्धि और प्रतिभा दी है, उसका उपयोग करना चाहिए और देखना चाहिए कि क्या दूसरों की तरह अपने को भी कीड़े-मकोड़े की ही जिंदगी जीनी है अथवा लक्ष्य, उद्देश्य, आदर्श, प्रेम, परमार्थ के तत्त्व-ज्ञान को भी अपनी गतिविधियों में कहीं स्थान देना है ? जिन विषम परिस्थितियों भरे युग में हम पैदा हुए हैं, उसकी कुछ अतिरिक्त आवश्यकताएँ और जिम्मेदारियाँ हैं। प्रबुद्ध और सजग लोग ही उन्हें वहन कर सकते हैं। अपने में यह दोनों गुण होते हुए भी यदि

संकीर्ण स्वार्थपरता के बंधनों में बँधे रहकर ऊँची बातें सोचना बंद कर दें और कीट-पतंगों जैसी प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर यह बहुमूल्य जीवन गँवा दें, तो समझना चाहिए कि हम अनंत काल तक व्यथित करने वाली दुःखदायी दुर्घटना के शिकार हो गये।

हम मान बैठे हैं कि एकाकी जीवन की ही अपनी जिम्मेदारी है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, समाज के हम अविच्छिन्न अंग हैं। हमारी जिम्मेदारी शरीर-परिवार तक सीमित नहीं, वरन् सुविस्तृत जन-समाज तक व्यापक है। जिसके पास बंदूक का लायसेंस हो किंतु पड़ौस में होती रहने वाली डकैती के प्रतिरोध में उसका उपयोग न करे तो कानून और समाज उसकी भर्त्सना करेगा, सरकार उसकी बंदूक छीन लेगी। जागता हुआ व्यक्ति घर में होती चोरी की घटना देखता रहे और चुपचाप पड़ा रहे तो उसकी यह भीरुता निंदा का विषय बनी रहेगी। पड़ौस में हो रही उथल-पुथल से निर्लिप्त रहकर कोई व्यक्ति चैन से नहीं रह सकता। पड़ौस की अवांछनीय हलचलें किसी न किसी प्रकार अपने को, अपने परिवार को, प्रभावित करेंगी और हानिकारक सिद्ध होंगी। सामाजिक विभीषिकाओं का हमें सामना ही करना चाहिए और उन्हें रोकने के लिए कुछ न कुछ करना ही चाहिए। अन्यथा संकीर्ण स्वार्थपरता की प्रवृत्ति अपने को भी शोक-संतापों में ग्रसित कर लेगी। स्वार्थी मनुष्य सोचता भर है कि मैं बहुत लाभ में रहूँगा, पर वस्तुतः वह रहता अत्यधिक घाटे में है। लाभ की कल्पना करते हुए प्रत्यक्ष घाटे की ओर अग्रसर होना बुद्धिमान् समझे जाने वाले मनुष्य की अत्यधिक कष्टकर मूर्खता है। क्या यही मूर्खता अपने मगज में भी बढ़ी है ?

प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। समस्या गंभीर है। इसे सुलझाने के लिए साहस का संचय किया जाना चाहिए। विवेक का, स्वतंत्र चिंतन का हमें भरपूर उपयोग करना चाहिए और इस निष्कर्ष पर पहुँचना

चाहिए कि जिंदगी के शेष दिन किन आदर्शों, किन आकांक्षाओं, किन गतिविधियों के साथ व्यतीत किये जाएँ ? वर्तमान परिस्थितियाँ कैसी ही विषम अथवा उलझी हुई क्यों न हों, उनके बीच भी बहुत कुछ करने का मार्ग निकल सकता है। "जहाँ चाह—वहाँ राह" वाली उक्ति मिथ्या नहीं है। उसके पीछे ठोस सच्चाई भरी पड़ी है। जिस ओर अपनी सच्ची इच्छा होगी उस ओर कुछ न कुछ करने का मार्ग निकल आएगा और यदि दृढ़ता और मनस्विता की मात्रा कम न हुई तो निरंतर उस दिशा में ऐसी क्रमिक प्रगति होती जायेगी कि एक दिन आश्चर्यजनक कर्तृत्व का प्रचुर परिणाम सामने विद्यमान होगा।

साहस हमें एकत्रित करना ही होगा। कायरता और भीरुता—स्वार्थ और संकीर्णता से—अज्ञान और व्यामोह से ग्रसित आज के जनमानस की एक इकाई ही हमें नहीं बन जाना है, वरन् सजग विवेकवानों की तरह एकाकी अपने पैरों पर खड़े होना और आगे बढ़ना होगा। हमें शूर-वीरों की तरह साहसी बनना है। अपनी समस्याओं को आप हल करने के लिए उपयुक्त ढंग से सोचने और सही ढंग से करने के लिए अपनी मनस्विता का परिचय देना है। समय की पुकार हम अनसुनी न करें। युग की चुनौती स्वीकार करने से हम न कतरायें यही उचित है। संकीर्णता और स्वार्थपरता के नगण्य तंतु नर-नाहरों को असहाय बंदियों की तरह बाँधे पड़े रहें तो यह एक लज्जाजनक करुण कथा बनी रहेगी। उपयुक्त विवेक और उचित भावना रहते हुए भी हमारा जीवन-क्रम अपंग, असहायों जैसा, दीन-हीनों जैसा क्यों बना रहे ? इस व्यामोह ग्रसित जीवन में—ऐसा कौन चैन, संतोष है, जिसके लिए उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने में आने वाली कठिनाइयों की बात सोचें और घबराएँ ?

साहस ने हमें पुकारा है। समय ने, युग ने, कर्तव्य ने, उत्तरदायित्व ने, विवेक ने, पौरुष ने हमें पुकारा है। यह पुकार

अनसुनी न की जा सकेगी। आत्म-निर्माण के लिए, नव-निर्माण के लिए हम काँटों से भरे रास्तों का स्वागत करेंगे और आगे बढ़ेंगे। लोग क्या कहते और क्या करते हैं, इसकी चिंता कौन करे ? अपनी आत्मा ही मार्गदर्शन के लिए पर्याप्त है। लोग अंधेरे में भटकते हैं—भटकते रहें, हम अपने विवेक के प्रकाश का अवलंबन कर स्वतः आगे बढ़ेंगे। कौन विरोध करता है, कौन समर्थन, इसकी गणना कौन करे ? अपनी अंतरात्मा, अपना साहस अपने साथ है। सत्य के लिए, धर्म के लिए, न्याय के लिए हम एकाकी आगे बढ़ेंगे और वही करेंगे, जो करना अपने जैसे सजग व्यक्तित्वों के लिए उचित और उपयुक्त है।

परिवर्तन के लिए समर्थन और साहस की अपेक्षा की जाती है। संसार में साहस मिट गया—यौवन की उमंगें भीरुता ने ग्रस लीं—अज्ञान का अंधकार विवेक के प्रकाश को निगल गया—इस कलंक से अपने रहते मानवता को कलंकित न होने देंगे और कोई न सही, हम अकेले ही सही, आगे बढ़ेंगे, बढ़ रहे हैं और वहाँ तक बढ़ते जाएँगे, जहाँ तक कि प्रस्तुत अवांछनीय परिस्थितियों, विडंबनाओं और विचारणाओं का अंत न हो जायेगा। युग को बदलना है इसलिए अपने दृष्टिकोण और क्रियाकलाप का परिवर्तन साहस या दुस्साहसपूर्ण करना ही होगा। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं।

❐ ❐

# कायरता और भीरुता का कलंक स्वीकार नहीं

कोई व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना की भूमिका में विकसित हुआ है या नहीं—यह परीक्षा उसके सत्साहस की मात्रा को देखकर ही की जा सकती है। जो साहसी है, वही अध्यात्मवादी है। मनुष्य के अंतराल में अगणित योग्यताएँ, क्षमताएँ, विभूतियाँ भरी पड़ी हैं। उन्हें जगाने एवं उठाने के लिए साहस चाहिए। भारी वजन की वस्तुएँ 'क्रैन' से उठाई जाती हैं। अत्यंत महत्त्वपूर्ण क्षमताओं को साहस के बल पर ऊपर उठाया और सुविकसित किया जाता है। महानता के लिए जिन आधारों की आवश्यकता है, वे तत्त्वतः सभी अपने भीतर विद्यमान हैं। ईश्वर ने किसी को दीन-दुर्बल बनाकर नहीं भेजा, हर किसी के भीतर अपनी महान् महत्ताओं को ठूँस-ठूँसकर भर दिया है, उनका उपयोग कर सकने की जिनमें भी हिम्मत होती है, लाभ उठा लेते हैं और जो भीरुता से ग्रसित होकर डरते, हिचकिचाते रहते हैं, उनके सामने से सौभाग्य के सभी मूल्यवान् अवसर एक-एक करके विदा होते चले जाते हैं।

मनुष्य सर्व समर्थ है। उसे अपूर्ण नहीं बनाया गया। परमेश्वर ने किसी के साथ पक्षपात नहीं किया। अशक्त और असमर्थ मानव की रचना यदि हुई होती तो उस कलाकार की सर्वोत्तम रचना को त्रुटिपूर्ण ठहराया जाता, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। भगवान् की सर्वोपरि कला मानव प्राणी के सृजन में प्रस्फुटित हुई है। उसे बेजोड़ ही कहा जा सकता है। अपनी सारी महत्ता और विभूति बीज रूप में प्रभु ने मनुष्य में प्रतिष्ठापित की है और इस बात की पूरी गुंजाइश तथा छूट रखी है कि कोई भी मनस्वी उनका उपयोग करके अपने विकास की सीढ़ियों पर निर्भय रूप से चढ़ता हुआ पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करे।

संसार के महामानवों के इतिहास, स्वरूप, वर्चस्व एवं कर्तृत्व का जब हम बारीकी से निरीक्षण, परीक्षण करते हैं तो स्पष्ट हो

जाता है कि उन्हें जन्मजात रूप में कोई अलौकिक प्रतिभा प्राप्त नहीं थी। अन्य मनुष्यों की तरह वे भी सामान्य ही थे। उन्हीं परिस्थितियों में उत्पन्न हुए अगणित व्यक्ति आजीवन सामान्य एवं हेय परिस्थितियों में पड़े जिंदगी के दिन गुजारते रहे। वे अपने चारों ओर घिरे वातावरण में सीमा संकुल बने रहे। परिस्थितियाँ जहाँ ले गईं, समय जहाँ घसीट ले गया, वहाँ चले गये और विवशता ने जिस तरह रहने के लिए बाध्य किया, उसी को शिरोधार्य करके झुके खड़े रहे। प्रस्तुत वातावरण और परिस्थितियाँ यदि अनुकूल नहीं थीं तो उन्हें छोड़ा जा सकता था और अनुकूलता के क्षेत्र में प्रवेश किया जा सकता था, जैसा कि हर प्रगतिशील व्यक्ति ने किया है। किंतु साहस के अभाव में वे बेचारे कुछ कर न सके। नदी में बहते हुए पत्ते अथवा हवा में उड़ते हुए तिनके की तरह वे उसी प्रवाह के अंग बने रहे, जो अनिश्चित दिशा में गतिशील था। ऐसे प्रवाह में जो पड़ा हुआ है और हाथ-पैर छोड़कर नियति के साथ बहता जा रहा है, उससे यह आशा कौन करेगा कि वह किसी महान् लक्ष्य अथवा गौरवान्वित स्थान तक पहुँच सकेगा ?

महामानवों की एकमात्र विशेषता यह होती है कि वे विवेक का अंचल पकड़ते हैं और वर्तमान परिस्थितियों की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का बारीकी से निरीक्षण करते हैं। जो उन्हें उपयुक्त लगता है, उसे दृढ़तापूर्वक बढ़ाते हैं और जो अनुपयुक्त लगता है, उसे बदलने के लिए अपने सारे शौर्य एवं साहस का उपयोग करते हैं। वे जानते हैं कि मनुष्य की सत्ता परिस्थितियों की गुलाम नहीं, वरन् उन्हें बदलने एवं बनाने में पूर्णतया समर्थ है। चालू ढर्रे को बदलने में, नया वातावरण ढूँढ़ने या बनाने में कुछ अनोखे लगने वाले कदम उठाने पड़ते हैं। कुछ अनोखा-सा सोचना और अनोखा-सा करना पड़ता है। यह घड़ियाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ी अटपटी होती हैं। पुरानी परिस्थिति छोड़ने में भय रहता है कि कहीं जो उपलब्ध है, वह भी हाथ से न चला जाए और नये कदम के बारे में यह आशंका रहती है कि कहीं असफलता ही हाथ

न लगे। वर्तमान का मोह और भविष्य की आशंका इन दुहरी मानसिक जंजीरों में जकड़ा हुआ व्यक्ति थोड़ी उधेड़-बुन के बाद आमतौर से इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अभी जो है उसी को बने रहने दिया जाए। पीछे कभी अवसर आया तो परिवर्तन करेंगे। सच बात यह है कि सारे जीवन यही परिस्थिति बनी रहती है। अनुपयुक्त को छोड़ने और उपयुक्त को अपनाने का अवसर कभी आता ही नहीं। जो है, सो है—जो चल रहा है सो ठीक है, साहस के अभाव में और कोई निष्कर्ष निकल भी नहीं सकता।

जीवन-क्रम के परिवर्तन में जिस साहस की जरूरत है, उसे ही महानता का बीज-तत्त्व कह सकते हैं। योद्धा उसी को नहीं कहते, जो शत्रु के साथ दो-दो हाथ करता है। सच्चा शूर वह है जो—अपनी आंतरिक दुर्बलता से लड़ने और उसे परास्त करने के लिए बहादुरी के साथ आगे बढ़ता है और हेर-फेर के दिनों में जो अप्रत्याशित कठिनाइयाँ आती हैं, उन्हें अविचल भाव से धैर्यपूर्वक सहन करता हुआ अपने प्रयास में अड़ा रहता है और देर-सबेर में अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपनी आशाओं, उमंगों और चेष्टाओं को निरंतर सुदृढ़ बनाये रहता है।

यह बहादुरी जहाँ होगी वहाँ परिस्थितियों का परिवर्तन सरल हो जाएगा। समीप न सही—दूर सही। इस संसार में उपयुक्तता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। प्रस्तुत वातावरण ठीक नहीं बैठता तो दूसरे में प्रवेश करने के लिए विस्तृत क्षेत्र खुला पड़ा है। अनुकूलताएँ घर बैठे नहीं आतीं—उन्हें ढूँढ़ने जाना पड़ता है। प्रस्तुत वातावरण यदि असंतोषजनक है तो आवश्यक नहीं कि उसी के आगे सिर झुकाये बैठे रहा जाए। संतोषजनक आधार भी इसी संसार में मौजूद हैं और यदि हम उनकी समीपता प्राप्त करने की उत्कंठा रखें तो निःसंदेह वे मिल भी सकते हैं। मूल आवश्यकता इस बात की है कि क्या आंतरिक व्यामोह और कार्पण्य से लड़ने की बहादुरी की उपयुक्त मात्रा अपने भीतर विद्यमान है ? यदि भीरुता ने मन-मस्तिष्क को जकड़ रखा है और साहसपूर्ण कदम

उठाने में डर लगता है तो फिर भाग्य का रोना रोते रहने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं।

अपने देश का जनमानस दीन-दुर्बलों जैसा है। हजार वर्ष की राजनैतिक दासता और दो हजार वर्ष की विचार-विकृतियों ने हमें मानसिक दृष्टि से एक पतित परिस्थिति में ला पटका है। उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता के विचार अब हमारे लिए एक कहने-सुनने भर के मनोरंजन मात्र रह गये हैं। कोई उन्हें काम में नहीं लाता। काम में केवल प्रवंचनाएँ और हीनताएँ ही लाई जाती हैं। आमतौर से हम ओछा जीवन जीने के आदी हैं। उसी ढर्रे ने प्रथा-परंपराओं का रूप धारण कर लिया है। जीवन जीने का व्यवहारिक स्वरूप इन दिनों इतना नीचा है कि उसे नर-पशुओं के उपयुक्त ही माना जा सकता है। इसी ढर्रे पर अपना सामाजिक जीवन लुढ़क रहा है। कहने भर के लिए कोई आदर्शवाद की दुहाई भले ही दे रहा हो, पर जब उसे नंगा करके परखा जाता है तो सड़ी-गली विकृतियों से भरी हुई ही उसकी अंतःस्थिति प्रकट होती है। लोभ, मोह, तृष्णा, वासना, स्वार्थ, अहंकार, छल, दंभ, ईर्ष्या-द्वेष जैसे दुर्गुण ही अब मानव की गतिविधियों का सूत्र-संचालन करते हैं। अपनी प्रवृत्तियाँ इन्हीं से प्रेरित रहती हैं। धर्म और सदाचार की चर्चा एक फैशन मात्र रह गई है, व्यवहार में उसे प्रयुक्त करना अनावश्यक और मूर्खतापूर्ण माना गया है।

इस प्रकार के जन-मानस में किसी मित्र, पड़ौसी, कुटुंबी या हितैषी से यही परामर्श मिल सकता है कि ढर्रे की जिंदगी जीते रहा जाए। वे स्वयं भी ऐसा ही कर रहे होते हैं, इसलिए उनसे यह आशा भी कैसे की जा सकती है कि वे आदर्शवादिता की दिशा में कोई दूसरा ऐसा कदम उठाएँ, जो उनकी दृष्टि में घाटे जैसा हो। आज यह आशा नहीं की जा सकती कि कोई हमें आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता की गतिविधियाँ अपनाने का परामर्श, प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन प्रदान करेगा। वरन् तथ्य यह है कि जब भी हम आकांक्षा व्यक्त करेंगे तभी उपहास एवं विरोध की झड़ी लग

जाएगी। समर्थन तो कोई भी न करेगा। विचारों का विरोध किया जाएगा और क्रियाओं को असफल बनाने के लिए कुछ उठा न रखा जाएगा। तथाकथित हितैषी और शुभचिंतकों से इससे अधिक आशा किसी भी उस व्यक्ति को नहीं करनी चाहिए, जो महानता की दिशा में बढ़ने और जीवन को सार्थक बनाने के लिए उत्सुक है।

अनुपयुक्त, अवांछनीय, अनैतिक और असमंजस भरा जीवन गुजार देने में जिन्हें संतोष है, उनसे कुछ कहना नहीं है। पर जिनके अंतरंग में इस सुर-दुर्लभ मानव-जीवन की महत्ता, उसके प्रयोजन, लक्ष्य एवं कर्तव्य के बारे में भाव उठते हों तो उनके लिए एक ही मार्ग है कि निरंतर उधेड़-बुन में पड़े रहने की अपेक्षा साहसपूर्ण कदम उठाने के लिए अपने मनोबल को प्रखर करें। सोचना यह होगा कि—"हम ईश्वर की संतान हैं। उसी के साथ हम जुड़े हुए हैं। उसी के सामने हम जीवन के सदुपयोग, दुरुपयोग करने के उत्तरदायी हैं। नर तन के अलभ्य अवसर का समुचित प्रयोग न करने पर—हमारा भविष्य अंधकारमय होगा। नरक-योनियों में भ्रमण तथा अंधकारमय भविष्य की यातनाएँ हमें सहनी पड़ेंगी। यदि प्रस्तुत सुअवसर का सदुपयोग कर लेते हैं तो आत्म-कल्याण, पूर्णता एवं परम लक्ष्य की प्राप्ति का आनंद हमें मिलेगा। शरीर सुख के लिए आत्मा को दुःखी करना उचित नहीं। तुच्छ मनोरंजनों के लिए जीवनोद्देश्य को भुलाया नहीं जाना चाहिए। आत्मा की पुकार और परमेश्वर की वाणी को अनुसनी नहीं किया जाना चाहिए। लोग क्या करते और क्या कहते हैं—इसी आधार पर हमारी गतिविधियाँ नहीं चलनी चाहिए। हमें विवेक का आश्रय लेना चाहिए और केवल वही सोचना, वही चाहना और वही करना चाहिए, जो हमारे महान् गौरव एवं कर्तव्य के अनुरूप है।"

इस विचारणा को बार-बार जब भी अवसर मिले मस्तिष्क में स्थान देना चाहिए। चिंतन और मनन में इन्हीं विचारों को प्राथमिकता और प्रधानता मिलनी चाहिए। अपनी आत्मिक स्थिति

और भविष्य निर्माण के लिए महान् कर्तव्यों का पालन करने की दूरदर्शिता यदि जाग पड़े तो अंतःकरण में समुद्र-मंथन जैसी हलचल उत्पन्न होगी और एक महान् प्रश्न उठ खड़ा होगा कि—"वर्तमान ढर्रे को ही यथावत् चलने दिया जाए अथवा उसमें कुछ परिवर्तन किया जाए ? जिस तरह अब तक सोचा, चाहा और किया गया है, उसी को चलने दिया जाए अथवा कुछ हेर-फेर आवश्यक है।"

विचार करने की शैली और काम करने की पद्धति में आज की स्थिति आमूलचूल परिवर्तन माँगती है। निकृष्ट जीवन को उत्कृष्टता में परिणत करना सबसे बड़ी सफलता और सबसे बड़ी क्रांति है। जिसने यह कर पाया, उसने सब कुछ कर लिया। जिससे इतना भी न बन पड़ा, समझना चाहिए कि वह कुछ भी कर सकने में वंचित रह गया। दुनिया वालों की दृष्टि में कुछ पैसे कमा लेना, ऐश-आराम के साधन जुटा लेना, मस्ती-वाहवाही लूट लेना, दूसरों पर रौब-दाब जमा लेना, अपने शरीर और वैभव को आकर्षक बना लेना, बस इतनी भर बातें जीवन की सफलता की कसौटियाँ हैं। वे इन्हीं को सब कुछ मानते हैं। लोगों के सोचने के ढंग में जिन्होंने अपना सोचना मिला लिया है, उनके लिए आकर्षण इन्हीं बातों में हो सकता है और क्रियाकलाप इन्हीं बातों में सीमाबद्ध रह सकता है। पर जिन्होंने विवेक एवं दूरदर्शिता को अंतःचेतना में स्थान दिया हो उनके सोचने और चाहने का स्तर कुछ दूसरा ही होगा।

जिसने तात्त्विक दृष्टि से, विवेक के आधार पर—अंतरात्मा की साक्षी में जीवन समस्या पर विचार करना आरंभ किया उसे लोगों की समझ बहुत ही भोंड़ी और संकीर्ण मालूम पड़ेगी। लोग शरीर और शरीर से संबंधित सुखों को ही सब कुछ मानते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा कोई शब्द तो है, पर उसकी स्थिति, आकांक्षा, प्रगति एवं शांति के संबंध में भी कुछ सोचा और किया जाना चाहिए, यह कभी भी नहीं सूझता। फिर बेचारे उस दिशा में कुछ करें भी तो कैसे ? अस्तु उनका जीवन नर-पशुओं

जैसा—शिश्नोदर परायण बना—वासना-तृष्णा की धुरी पर घूमता हुआ व्यर्थ-विडंबनाओं के साथ समाप्त हो जाता है। जो मानव जीवन की अलभ्यता और महत्ता को मानते हैं, उन्हें कुछ दूसरे ही ढंग से सोचना होता है। वे आत्मा की महत्ता को मानते हैं और उसकी आकांक्षा एवं प्रगति के लिए भी कुछ करने को उसी तरह तत्पर होते हैं, जैसे शरीर की आहार-विहार संबंधी व्यवस्था बनाने का प्रयत्न करते हैं।

यह मनःस्थिति यदि बन जाए तो समझना चाहिए कि जीवन की सफलता का क्रम और आधार बन गया। मानव से महामानव बनने का श्री गणेश हो गया। यह परिवर्तन—प्रखर मनस्विता की अपेक्षा करता है। साहसी और शूरवीर ही यह सब कर पाते हैं। कायर और भीरु ढर्रे की प्रक्रिया को पलटने में असमर्थ रहते हैं। जो दीख रहा है, जो चल रहा है, जो हो रहा है वही ठीक है, उसी का अनुगमन करना सरल है—जिनके मन की स्थिति यह है, वे नर-पशु का कलेवर छोड़कर नर-नारायण का स्तर कैसे अपना सकेंगे ? उत्कृष्टता की दिशा अपनाने से पूर्व लोगों के सोचने और करने के ढंग से अपना पृथक् ढंग बनाने का निश्चय करना पड़ता है। इस संकल्प को दृढ़तापूर्वक पालन किये बिना आदर्शवादिता और आध्यात्मिकता को अपना सकना किसी के लिए भी संभव नहीं हो सका। समीपवर्ती व्यक्तियों और गतिविधियों से भिन्न प्रकार की उलटी—मनोदशा और गतिविधियाँ अपना सकना दुर्बल मन वालों का नहीं, वरन् साहसी शूरवीरों का काम है। जिसके भीतर यह तत्त्व समुचित मात्रा में विद्यमान होगा, वही कुछ महत्त्वपूर्ण कर सकने में समर्थ होगा अन्यथा आदर्शवाद की ऊँची उड़ान उड़ने की कल्पना-जल्पना करने में सिर खपाने वाले कितने ही शेखचिल्ली इस दुनिया में अनेकों बार उपहास्पद बन चुके और कितने अब भी असफल मनोरथ बनने की तैयारी करने जा रहे हैं।

महानता का मूल वह साहस है, जिसके बलबूते पर व्यक्ति अपनी आज की अवांछनीय मनोदशा और क्रियापद्धति को बदल

डालने के लिए क्रांतिकारी कदम उठाने में समर्थ होता है। आदर्शवादी लोग क्या कहते हैं, क्या परामर्श देते हैं, क्या चाहते हैं, इसकी रत्ती भर भी परवाह न करता हुआ इस आधार पर अकड़कर खड़ा हो जाता है कि जो उपयुक्त है, जो श्रेयस्कर है, उसी को अपनाया जाएगा, फिर चाहे इसमें लोगों की भर्त्सना, उपेक्षा, उपहास, निंदा अथवा विरोध-प्रतिरोध का ही सामना क्यों न करना पड़े। जिसने यह ठान लिया कि ऐश्वर्यवान् बनने के लिए अवांछनीय मार्ग नहीं अपनाया जा सकता है, भले ही आदर्शवाद की राह पर चलते हुए रूखी रोटी खाकर और फटा कपड़ा पहनकर गुजारा क्यों न करना पड़े, वैसे ही निष्ठावान् व्यक्ति आदर्शवाद भरी आध्यात्मिकता को अंत तक निभाते रह सकने में सफल होते हैं। अन्यथा भावावेश में लंबी-चौड़ी योजनाएँ बनाकर चुटकी बजाते आकाश-पाताल जैसी सफलताएँ पाने का सपना देखने वाले, जैसे ही कठिनाइयों का दौर सामने आता है, मैदान छोड़कर भाग खड़े होते हैं। जबानी मर्द बहुत होते हैं। बातूनी शेरों की कमी नहीं, पर वीरता तो वास्तविक मोर्चे पर कट-कटकर लड़ने पर ही परखी जाती है। लोगों का उपहास और स्वार्थ लाभ में तनिक-सी कमी पड़ते ही, जिनके पैर डगमगाने लगें, वे बेचारे महान् पथ का लक्ष्य प्राप्त करके रहने वाले महान् पथिक कहला सकने वाले नहीं बन सकते।

व्यक्तिगत जीवन की सफलता की दृष्टि से, पीड़ित युग की करुण पुकार के अनुरूप प्रबुद्ध आत्माओं के कर्तव्य पूर्ण करने की दृष्टि से—आज की महती आवश्यकता यही मानव बनने की है। इसी में जीवन लक्ष्य पूरा करने का आत्मिक उद्देश्य पूरा होता है और इसी में युग की आवश्यकताएँ पूरी करने वाले ऐतिहासिक युग-पुरुषों की पंक्ति में खड़े होने का अवसर मिलता है। इसी में आत्मिक और भौतिक दोनों स्वार्थ साधन हैं। भगवान् की समग्र पुकार आज के सजग मनुष्य के सम्मुख इसी रूप में प्रस्तुत हो रही है कि उसे नरपशु की स्थिति में न पड़े रहकर नर-नारायण बनने

की परिधि में प्रवेश करना चाहिए। यह भावना अनेक सजग अंतःकरण वाले व्यक्तियों के मन में उठती, प्रखर होती और तड़पन उत्पन्न करती भी देखी जाती है, पर बात रुक जाती है वहीं जहाँ साहस का प्रश्न आता है। लोग क्या कहने लगेंगे ? आज के सरल जीवन के स्थान पर कल न जाने किन अभाव-अड़चनों का सामना करना पड़े ? इन आशंकाओं में यद्यपि कुछ दम नहीं है तो भी वे विकराल प्रेत-पिशाच जैसा रूप बनाकर कल्पना क्षेत्र में प्रवेश करती हैं और आत्मिक दृष्टि से बालकपन की सीमा में पड़े हुए इस भावुक व्यक्ति को डरा-धमकाकर भयभीत कर देती है। बेचारा सहमकर चुप हो बैठता है। इतना साहस कहाँ से लाये कि आत्मा की तुष्टि के लिए अज्ञानांधकार में भटकने वाले तथाकथित शुभचिंतकों की उपेक्षा कर सके और भगवान् की संरक्षकता पर विश्वास करते हुए कल भी जीवन निर्वाह की व्यवस्था बनी रहेगी, इस तथ्य पर विश्वास कर सके। जिसमें इतना साहस होता है, वही कुछ बड़े कदम उठा सकने में समर्थ होता है और उसी के द्वारा अपने तथा अन्य असंख्यों के कल्याण का श्रेय साधन बन पड़ता है।

क्या ही अच्छा होता युग निर्माण परिवार के सदस्यों में कुछ ऐसी आत्माएँ निकल सकी होतीं, जो भीरुता और कायरता की परिधि से ऊँची उठकर आदर्शवादिता और उत्कृष्टता के जीवन को धारण कर सकने का साहस दिखा सकी होतीं। ऐसे शूरवीर नर-नारी यदि थोड़ी मात्रा में भी निकल सके होते तो समाज में एक नई लहर पैदा होती और उसके प्रभाव से अगणित अंधेरे में भटकने वालों को प्रकाश मिलता। अनुकरणीय उदाहरणों के अभाव में अनेकों अविकसित व्यक्ति अपने अरमानों को दबाये बैठे रहते हैं। ऊँचे उठने की लालसा वे इसलिए पूरी नहीं कर पाते कि उन्हें कोई मार्गदर्शक नहीं दीखता। सेनापति के अभाव में सेना क्या करे ? इंजन के अभाव में रेल कैसे चले ? नेता के अभाव में आंदोलन कैसे पनपे ? चिनगारी के अभाव में दावानल कैसे भड़के ?

जरूरत ऐसे लोगों की है, जो परिवर्तन और सृजन का पथ प्रशस्त करने के लिए, कलियों को विकसित करने के लिए अपना गरमा-गरम आदर्श प्रस्तुत करें और पिछड़ेपन की प्रगति को बदल दें।

समय की चुनौती हर भावनाशील के सम्मुख कुछ कर गुजरने की अभिलाषा लेकर सामने आती है। उसका समुचित उत्तर वही देगा, जिसमें विचारशीलता के साथ-साथ हिम्मत भी हो। ऐसे बहुत लोग हैं, जिन्होंने वस्तुस्थिति को ठीक तरह समझ लिया है—समझाने की दृष्टि से वे दूसरों को समझा भी सकते हैं, पर इतने भर में कुछ काम चलने वाला नहीं है। लोग अनुकरणप्रिय हैं। जैसा घटनाक्रम अपने चारों ओर घटित होते देखते हैं, उसी का अनुकरण करने लग जाते हैं। आदर्शवादिता को अपनाने के बहुत न सही थोड़े भी उदाहरण सामने आने लगें तो उनका भी अनुकरण किया जाने लगेगा और देखते-देखते अनेक मनुष्य उस मार्ग पर चलने लगेंगे। पर जब आदर्श की बातें करने वाले तो बहुत दीखें और उन्हें कार्यान्वित करने वाला कोई नहीं, तो साधारण स्तर का व्यक्ति यही सोच सकता है कि यह सब कहने-सुनने भर की बातें हैं। इन्हें व्यवहार में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस परिस्थिति में वे लोग जिनका उत्साह अपरिपक्व ही है, निराश होकर चुप ही बैठ सकते हैं। इन अधखिली कलियों को यदि अनुकरणीय आदर्श सामने प्रस्तुत मिल सका होता तो निश्चय ही उन्होंने प्रस्फुटित पुष्प का रूप धारण किया होता और अपने पराग से दूरवर्ती प्रदेश को सुगंध से भर दिया होता।

आदर्श को व्यवहार में भी परिणत किया जा सकता है। वे केवल कल्पना की, मनोरंजन की, कहने-सुनने की ही वस्तुएँ नहीं हैं। यह सिद्ध करने के लिए कुछ न कुछ लोगों को अपना ही उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। अन्यथा प्रगति का पथ अवरुद्ध ही पड़ा रहेगा। युग की पुकार है कि हम लोग जो बढ़-चढ़ कर

आदर्शवाद की बातें करते हैं, उन्हें कार्यान्वित करने के लिए भी आगे आएँ।

समय को पलटने वाले महामानव आरंभ में अपनी ही जैसी तुच्छ परिस्थितियों में जन्मे और बढ़े थे। उनमें साहस का सूर्य उगा। छुट-पुट कठिनाइयाँ जिनसे आमतौर से लोग डरते और झिझकते रहते हैं, उन्होंने उन्हें ठोकर मारी और आत्मा की पुकार पर वह करने को कटिबद्ध हो गये, जिसके लिए उनका कर्तव्य देर से आह्वान कर रहा था। यह साहस जब उगता है तो पहाड़-सी दीखने वाली आकांक्षाएँ तुच्छ बन जाती हैं और वीर पुरुष खाई-खंदकों को लाँघते हुए उस उच्च स्थल तक जा पहुँचते हैं, जहाँ से वह अनेकों का मार्गदर्शन करने, हिम्मत-बाँधने और आगे बढ़ने में समर्थ होता है।

युग की विषमता क्रमशः विभीषिका का रूप धारण करती चली जा रही है। व्यक्ति अपनी मानवीय सत्प्रवृत्तियों का एक-एक करके परित्याग करता चला जा रहा है। प्रेम, करुणा, सहृदयता, सौजन्य, सदाचार, संयम बुरी तरह घट रहे हैं और उनका स्थान वासना, तृष्णा, अहंकार, अनाचार को मिलता चला जा रहा है। मनुष्यता का स्थान पशुता ग्रहण कर रही है। स्वार्थ और संकीर्णता की अंधकार भरी निशा-निबिड़ होती चली जा रही है। इन परिस्थिति में मानव जाति को शोक-संताप, क्लेश, कलह, अभाव, अशांति और दुःख दारिद्रय से ग्रसित होते जाना स्वाभाविक है। लगता है यह विडंबना इस धरती को नरक के रूप में परिणत कर देगी और मनुष्य का अंतःकरण तथा परस्पर स्नेह-सौजन्य मरघट में जलने वाली चिताओं की तरह भस्म होकर रहेंगे। जिस अनैतिक एवं अवांछनीय रीति-नीति को अपनाया जा रहा है, उसके दुष्परिणाम बहुत करके सामने आ रहे हैं। जब इन पापों का पूर्ण परिपाक होगा तो जटिलता इतनी बढ़ जाएगी कि मनुष्य-मनुष्य को खाने लगेगा और सर्वत्र अविश्वास, आशंका, असुरक्षा, अशांति, अवांछनीयता एवं

अनुपयुक्तता की भरमार दीखने लगेगी। यह धरती मनुष्यों के रहने लायक न रह जाएगी।

वैयक्तिक जीवन की तरह सामूहिक जीवन की, समाज-व्यवस्था की भी दुर्गति होने जा रही है। अपराधों की, छल-प्रपंच की बाढ़ जिस तेजी से आ रही है नीति, धर्म, सदाचार एवं कर्तव्य का बुरी तरह हनन हो रहा है और हर कोई असीम अधिकारों की असंभव माँग के लिए लड़ने-मरने को खड़ा है। अपना स्वार्थ प्रधान, दूसरे की स्थिति की उपेक्षा की दुष्प्रवृत्ति पनपने के कारण संसार के हर क्षेत्र में समस्याएँ उलझती चली जा रही हैं। राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक, अंतर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में उलझनें बढ़ रही हैं। उद्योग, श्रम, शिक्षा, परिवार, भाषा, प्रांत, वर्ग, वर्ण, शिक्षा-संस्कृति, सभी क्षेत्रों में गतिरोध उत्पन्न हो गया है और द्वेष, घृणा, संदेह, छल, प्रपंच एवं आक्रमण की बढ़ोत्तरी ने समाज की स्थिति को असह्य बना दिया है। यों देखने में लोगों की शिक्षा, चातुरी और बुद्धि बढ़ती प्रतीत होती है, पर वस्तुतः अज्ञान का, अविवेक का, अदूरदर्शिता का ऐसा तांडव हो रहा है कि मानो समस्त समाज पागल हो चला हो और आत्मघात करके अपना अस्तित्व ही मिटाने को कटिबद्ध हो।

व्यक्ति और समाज दोनों ही क्षेत्रों में अनाचार की जो बाढ़ आई है, वह इसी क्रम में बढ़ती चली तो लाखों वर्षों में जिस सभ्यता एवं संस्कृति का विकास-निर्माण हुआ है, वह एक-दो शताब्दियों में ही नष्ट हो जाएगी और मनुष्य फिर आदिम युग का जंगली जीवन जीने को बाध्य हो जाएगा। तीसरा महायुद्ध भले ही परमाणु आयुधों से लड़ा जाए, पर इसके बाद ऐसी परिस्थिति आ जायेगी कि चौथा युद्ध लड़ने के लिए ईंट-पत्थरों के अतिरिक्त और कोई अस्त्र न तो शेष रहेगा और न प्रयोग कर सकने की क्षमता ही बचेगी।

ऐसी विषम परिस्थितियों को रोकना मानवीय विवेक का काम है। जिनमें जीवन है, जिनमें आत्मा है, जिनमें दूरदर्शिता है, जिनमें

भावना है, उन सभी प्रबुद्ध व्यक्तियों का आज की विषम बेला में एक ही कर्तव्य है कि अपने तुच्छ स्वार्थों की, वासना और तृष्णा की उलझन में उलझे रहने की तुच्छता को सीमाबद्ध करें और युग की पुकार को पूरा करने के लिए अपने समय, श्रम, विवेक, प्रभाव, धन एवं वर्चस्व का अधिकाधिक उपयोग करने के लिए साहसपूर्ण कदम बढ़ाएँ।

लोग जिस स्तर के हैं उसे देखते हुए इस प्रकार का कदम बढ़ाने वाली किसी प्रबुद्ध आत्मा को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उसे अपने तथा कथित संबंधी, हितैषियों से समर्थन एवं प्रोत्साहन मिलेगा। आज वे बेचारे जिस तुच्छता की मनोभूमि में कीचड़ के कीड़े जैसे बिलबिलाते रहते हैं, उसे देखते हुए आशा करना व्यर्थ है कि वे इस प्रकार का सहयोग दे सकते हैं या देंगे। उनसे तो निंदा, उपहास, विरोध एवं झंझट की ही आशा करनी चाहिए। प्राचीनकाल में भी लोक-सेवकों को ऐसे ही अवरोध का सामना करना पड़ा है। फिर अब तो और भी बुरी स्थिति है। इस स्थिति में तो और भी अधिक अड़चनें हैं। इसलिए यदि इस प्रकार का साहस करना हो तो उसमें अपना ही वर्चस्व काम का होगा। अपनी ही हिम्मत से गाड़ी चलेगी।

धन का लोभ और विलासिता का मोह घटाकर ही कोई व्यक्ति अपनी महानता विकसित कर सकता है। जिनके भीतर यह दो आकर्षण शिथिल नहीं हुए, वे बड़े आदमी बन सकते हैं—महापुरुष नहीं। महापुरुषों को रूखी रोटी और फटे वस्त्र से काम चला लेने की मनःस्थिति बनानी पड़ती है और किसी प्रकार शरीर निर्वाह की सुविधा बन जाने मात्र में संतुष्ट रहना पड़ता है। इसी प्रकार अपनी कीर्ति, प्रतिष्ठा, विज्ञप्ति की लोकैषणा पर भी नियंत्रण करना पड़ता है। यह रोग जिनके पीछे लग जाते हैं, वे भी धन और वासना की ही तरह उद्विग्न रहते हैं और अपनी इस लचक को पूरा करने के लिए अवांछनीय गतिविधियाँ अपनाते, यहाँ तक कि अपने उद्देश्य के भी प्रतिकूल मार्ग से भटक जाते हैं।

वासना, तृष्णा और प्रतिष्ठा पर अंकुश रखे बिना—इनकी ओर से विमुख-विरक्त बने बिना भी कोई व्यक्ति सच्चा लोक-सेवक नहीं बन सकता। कहना न होगा कि इन तीन आचरित प्रतिरोधों और संबंधियों का विरोध तथा अभावग्रस्त जीवन की आशंका इन पाँच मोर्चों पर हमें जूझना पड़ता है, जब जीवनोद्देश्य को पूरा करने—युग की पुकार के अनुरूप कदम बढ़ाने एवं महानता का मार्ग अपनाने के लिए अवसर होता है। इन पाँच मोर्चों पर एकांकी लगना केवल साहसी का, दुस्साहसी का काम है। भीरु और कायरों के लिए महानता की कल्पना करते रहना ही बड़ा है। शृगाल सिंहों जैसी कल्पना भले ही कर लें, वे साहस के अभाव में उन जैसा आचरण नहीं कर सकते।

आवश्यकता ऐसे साहस की है जो हमें महानता के पथ पर अग्रसर होने के लिए उपर्युक्त पाँचों अवरोधों से जूझने की क्षमता प्रदान करें। ऐसी क्षमता और हिम्मत जिनमें उदय हो सके उन्हीं का जीवन धन्य है और उन्हीं के कर्तृत्व से मानवता का उद्धार, समाज का कल्याण एवं देश, धर्म, समाज, संस्कृति का पुनरुत्थान संभव है। भगवान् करे ऐसी महानता अपने परिवार के अधिकाधिक व्यक्तियों में उत्पन्न, विकसित एवं परिपुष्ट हो सके।

❐ ❐

# साहस समेटकर सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाएँ

पिछले पृष्ठों में हमने साहस को विकसित करने के लिए बहुत जोर दिया है, क्योंकि यह उच्च कोटि का आध्यात्मिक गुण है। सामाजिक समृद्धि भी साहस की अपेक्षा करती है और वैयक्तिक प्रतिभा का विकास तो पूर्णतया हिम्मत पर निर्भर है। कई लोग सोचते बहुत हैं, कल्पनाएँ दूर की करते हैं, योजनाएँ लंबी-चौड़ी बनाते हैं, पर जब उन्हें कार्यान्वित करने का अवसर आता है तब हिम्मत के अभाव में अचकचा कर रह जाते हैं। कुछ नया करने के लिए कई तरह से सोचना पड़ता है और नई व्यवस्था बनानी पड़ती है। डरपोक व्यक्ति जो ढर्रा चल रहा है उस पर कष्ट-कठिनाइयाँ सहते हुए भी चलते रह सकते हैं। पर कुछ नया करने में चर्चा का विषय बनेगा। दस खरी, दस खोटी कहेंगे। कोई हँसी उड़ाएगा और कोई निरुत्साहित करेगा, कोई झगड़ने खड़ा हो जाएगा। इन झंझटों में पड़ना संकोची स्वभाव वाले को बहुत कठिन प्रतीत होता है। नव-विवाहिता कुछ दिन जिस प्रकार घूँघट मारकर घर के एक कोने में चुपचाप बैठी रहती है, झिझक और शर्म के मारे किसी के आगे मुँह नहीं खोलती, उसी प्रकार मनोबल से रहित आत्महीनता से पीड़ित व्यक्ति आवश्यकता और उपयोगिता समझते हुए भी नवीनता का ताना-बाना बुन सकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। सोचते बहुत हैं, पर कर कुछ नहीं पाते। डरपोकों की यही रीति-नीति रहती है।

देर से यह सिखाते-समझाते चले आ रहे हैं कि प्रगति के लिए साहस की अनिवार्य आवश्यकता है। भोजन पकाना हो तो आग जरूर चाहिए। प्रगति के लिए मन करता हो, अवांछनीयता से पीछा छुड़ाना हो तो उसके लिए साहस अनिवार्य है। अपने समाज की मानसिक स्थिति—हजार वर्ष की गुलामी के कारण कुछ ऐसी हो गई है कि उसमें महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए हिम्मत कर सकने की प्रखरता रह नहीं गई है। प्रचलित ढर्रे पर लुढ़कते हुए अनाप-शनाप खर्च, समय का भारी अपव्यय और दुष्परिणामों का घटाटोप

स्वीकार है, अंधानुकरण करते रहने की तो हिम्मत है पर आदर्शवादिता की दिशा में विवेकपूर्ण कर्तृत्व अपनाने की बात सोचते ही लाज आती है। संकोच से जमीन में गड़ जाते हैं और डर लगता है न जाने कोई क्या कहने लगे ? हिम्मत वालों से वास्ता नहीं पड़ा, उच्च आदर्श के लिए लड़ने वालों की गतिविधियाँ देखी नहीं, उनकी समीपता भी नहीं मिली। आत्म बल इकट्ठा हो नहीं सका। इन परिस्थितियों में आज का सामान्य मनुष्य प्रगति की बात सोच नहीं पाता, सोचता है तो कर नहीं पाता।

यह मनोभूमि दुर्भाग्यपूर्ण है। हम उसी में ग्रस्त हैं। प्रगति के लिए यह स्थिति बदलनी पड़ेगी। इसलिए हम निरंतर इस तथ्य पर बल देते रहे हैं कि साहस का सद्गुण अंतःकरण में प्रतिष्ठापित करें और यदि उसके कुछ बीज मौजूद हों तो उन्हें उगाने-बढ़ाने की चेष्टा करें। हर महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले को हिम्मत से काम लेना पड़ता है। साहस और शौर्य की कसौटी पर खरा उतरना होता है। शौर्य का मतलब किसी से लड़ मरना नहीं, वरन् यह है कि अपनी आंतरिक दुर्बलताओं और समीपवर्ती लोगों की निंदा-स्तुति को उपेक्षणीय मानकर, जो उचित है, उसे करने के लिए कटिबद्ध हो जाएँ। सत्य और औचित्य को जीवन में उतारने के लिए तत्पर हो जाना—व्यवधानों और प्रतिरोधों की परवाह न करते हुए अपना रास्ता आप बनाना सच्चे शूरवीर का काम है। शौर्य की परख आघात-प्रत्याघात की क्षमता नहीं, वरन् यह है कि जो अवांछनीय है, अविवेकपूर्ण है, उसे अस्वीकार करने के लिए किस हिम्मत के साथ अपनी मानवोचित भूमिका संपादित की गई। युग-निर्माण योजना के सहचरों की विविध-विधि पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत करके उस साहसिकता की शिक्षा देते चले आ रहे हैं; जिसके बाहुल्य ने अपने पूर्वजों को उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचाया था और उसके अभाव में हम दीन-दरिद्र बने हुए बिलख रहे हैं।

आदर्शों को कार्यान्वित करने के लिए दुस्साहसपूर्ण कदम उठा सकना यही महापुरुषों की रीति-नीति रही है। इसी प्रतिभा को

खोकर अपना समाज आज मणिविहीन सर्प की तरह निस्तेज पड़ा हुआ है। यदि हमारी हिम्मत जाग जाए तो साधन-सामग्री के अभाव में कोई काम रुका न रहेगा और समग्र प्रगति के पथ पर हम तेजी से बढ़ते चले जाएँगे। दिशा कोई भी क्यों न हो, प्रगति के लिए साहस अनिवार्य है। यहाँ तक कि चोरी, डकैती, ठगी, उद्दंडता आदि दुष्प्रवृत्तियाँ भी तब फलित होती हैं, जब व्यक्ति में पर्याप्त हिम्मत हो। फिर आत्मिक एवं सामाजिक प्रगति का काम तो इसके बिना चल ही कैसे सकता है ? साहस के बिना न आध्यात्मिकता की ओर बढ़ा जा सकता है, न वैयक्तिक उन्नति की जा सकती है और न सामाजिक प्रगति संभव है। इसलिए जोर इस बात पर दिया जा रहा है कि हम मानसिक अवसाद को तिलांजलि देकर अंतःकरण में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न करें, जिसके आधार पर मनुष्य जीवन की महत्ता के अनुरूप कुछ महत्त्वपूर्ण कर सकना संभव हो सके।

हमारे व्यक्तिगत जीवन में यदि कुछ प्रगति हुई हो, कुछ सफलताएँ मिली हों तो उनका प्रथम श्रेय उदात्त साहस को ही दिया जाना चाहिए। बेशक उपासना और तपश्चर्या में हमारा बहुत समय लगा है, पर यह भी ध्यान रखने ही योग्य है कि लंबी अवधि तक कष्टसाध्य जीवन जीने और अगणित अवरोधों के बावजूद चट्टान की तरह अपने व्रत पर अडिग बने रहे। कोई दूसरा होता तो उतावली में जल्दी-जल्दी बहुत लाभ न मिलते देखकर निराश हो गया होता और उस टंट-घंट को छोड़कर किसी दूसरे धंधे में जा लगा होता। हिम्मत ही थी, जिसने हर विषम स्थिति में सहारा दिया और अंतिम साँस तक निर्धारित लक्ष्य तक चलते रहने की प्रेरणा रोम-रोम में भर दी। साधना सफल हुई सो भी ठीक है, ईश्वर का अनुग्रह बरसा सो भी ठीक है, पर यह भुलाया न जा सकेगा कि तनकर खड़े रहने और लंबी मंजिल पर धैर्यपूर्वक चलते आने का श्रेय उस साहस को है, जो हमारा ही नहीं, हर श्रेय साधक की सफलता का मूल आधार रहा है।

उपासना से अधिक महत्त्व हमारी जीवन साधना का है। उपासना कुछ घंटों में पूरी हो जाती है, पर जीवन साधना के लिए तो सोते-जागते हर घड़ी आत्म संघर्ष करना पड़ता है। यह लंबी लड़ाई शौर्य और साहस के हथियारों से ही लड़ी जा सकती है। तपश्चर्या शरीर और मन की अव्यवस्थित गतिविधियों को क्रमबद्ध करने के लिए किये जाने वाले संघर्ष का नाम है। हमें अपने आप से बहुत लड़ना पड़ा है। बाह्य जीवन भी संघर्षों से अछूता नहीं बीता। अंग्रेजी शासन में, रूढ़िवादी समाज से, दुष्ट-दुराचारियों से, हम निरंतर लड़ते रहे हैं और इस लड़ाई में इतने घाव खाते रहे हैं, जो राणा साँगा के ८० घावों से भी गहरे हैं। इससे भी अधिक लड़ाई अपने अहं से लड़नी पड़ी है। लोभ और मोह बार-बार भौतिक जीवन की सुविधाएँ बढ़ाने के लिए ललचाते रहे हैं। इन शत्रुओं के छद्म वेशों को, बहकावों को, आकर्षक तर्कों को सदा पहचाना और पछाड़ा है। स्वजन-संबंधी सदा बड़े आदमी बनने की और सुविधा भरी जिंदगी जीने की सलाह देते रहे, उन्होंने त्याग और बलिदान का, तपश्चर्या और साधना का रास्ता अपनाने से पग-पग पर रोका। आँसू और क्रोध दोनों ही रूप में उनका प्रतिशोध सामने आया। पर हम हैं—जो अपने ढंग से बिना डगमगाये अपनी राह चलते रहे।

सरकस के रिंग मास्टर जिस तरह शेर, चीते, हाथी आदि सधाते हैं और उन खूनी जानवरों को लाभ कमाने वाला बना लेते हैं, वैसे ही चतुरता और हिम्मत के साथ हमने अपनी मनोवृत्तियों को प्यार और फटकार से सधाया है। रुई धुनने वाले की तरह हमने अपने आपको धुना है और मैदा पीसने वाली पिसनहारी की तरह अपने आपको पीसा है। लंबी अवधि तक चलते रहे इस प्रयत्न-संघर्ष को यदि हमारी साधना या तपश्चर्या कहा जाए तो कुछ अत्युक्ति न होगी। उपासना से यदि कुछ लाभ मिला है तो उसका असली श्रेय उस साधनात्मक तपश्चर्या के लिए बरती गई हिम्मत को ही दिया जाना चाहिए। अपने प्रियजनों को अपनी यह

उपार्जित विभूति उत्तराधिकार में दे जाने का अपना बहुत मन है। उमंग यही उठती रहती है कि किसी प्रकार अपने स्वजन हिम्मत वाले बन सके होते तो मजा आ जाता। दीन-दुर्बलों में गिने जाने की अपेक्षा तब वे महापुरुषों की अग्रिम पंक्ति में खड़े दीखते और हम प्रफुल्लता से गद्‌गद होकर अपने श्रम की सार्थकता पर सब्र और संतोष करते।

बिल्ली अपने छोटे बच्चों को शिकार खेलना सिखाती है, तो चुहिया घायल करके उनके सामने छोड़ देती है। बच्चे उछल-कूद करके तरह-तरह के दांव-पेंच खेलते हैं और उस घायल चुहिया को मार खाते हैं। बिल्ली चुपचाप यह सारा दृश्य देखती है और बच्चों के प्रशिक्षण एवं पुरुषार्थ पर प्रसन्न होती है। साहस की आध्यात्मिक विभूति उपलब्ध करने के उद्‌देश्य से प्रिय परिजनों के सामने हमने दो चूहे घायल करके छोड़ दिये हैं। एक का नाम है विचार निर्माण, दूसरे का—समाज सुधार। इन कार्यों में संलग्न होने के लिए बहुत दुलार और फटकार के साथ हम अनुरोध करते रहे हैं। इसका मूल कारण यह नहीं कि यह दैवी प्रयोजन उनके बिना पूरा न हो सकेगा। वे सहयोग न करेंगे तो गाड़ी रुक जाएगी। युग परिवर्तन की महान् प्रक्रिया दैवी प्रेरणा के बलबूते पर चल रही है और महाकाल उसके लिए आवश्यक साधन जुटा रहे हैं। कोई तेजस्वी आत्मा अकेले भी परशुराम की तरह प्रस्तुत प्रयोजन को पूरा करके रख सकती है। जो सुनिश्चित भवितव्यता है वह होकर रहेगी। यह सड़ा हुआ वातावरण देर तक जीवित नहीं रह सकता। इसका स्थान ग्रहण करने के लिए सुसंपन्न परिस्थितियाँ बनकर लगभग तैयार हो चुकी हैं। स्थानांतरण मात्र बाकी है, सो सब कुछ अपने ढंग से हो रहा है। कोई यह समझता हो कि हम न करेंगे तो गाड़ी रुक जाएगी, तो वह भले ही अब तक की तरह आगे भी खुशी-खुशी मूर्च्छा में पड़ा रहे, भले ही अपना हाथ खींच ले। अगले ही दिनों प्रस्तुत परिवर्तन अपने आप आ धमकेगा। हानि सबसे बड़ी

एक ही होगी कि इस महान् अभियान में भाग लेकर जो दक्षता, आत्म-तुष्टि और कीर्ति पाई जा सकती थी, उससे वंचित रह जाना पड़ेगा। अलभ्य अवसर की उपेक्षा करने वालों को समय निकलने पर जो पश्चात्ताप सहना पड़ता है, उसकी असहनीय व्यथा भी सहनी पड़ेगी। अच्छा होता हमारे अनुचर—सच्चे अर्थों में वंशधर—अवसर का लाभ उठाते और अपने कर्तृत्व से आत्म-कल्याण एवं लोकमंगल की भूमिका में उतरते। चुहिया घायल पड़ी है। बच्चे मुँह मोड़ लें तो बिल्ली का कुछ बिगड़ने वाला नहीं, बच्चे ही अप्रशिक्षित और भूखे रह जाएँगे।

दो छोटे कार्य परिजनों को सौंपे हैं और आशा की है कि वे अगले दशक में सफलता के ऊँचे स्तर तक पहुँचा दिये जाएँगे। ज्ञान यज्ञ की विवेकशीलता प्रतिष्ठापित करने की बात बहुत दिनों से कही जाती रही है। हर घर में ट्रेक्ट, साहित्य का छोटा पुस्तकालय स्थापित होने और संपर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों को उसे पढ़ाने-सुनाने की बात कई दिनों से कहते रहते हैं। अपने सीमित क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए विज्ञप्ति वितरण वाली बात गत दिनों से कही गई है। यह बहुत आकर्षक और प्रभावशाली योजना है। अपने परिवार के लोग ही उसमें जुट जाएँ तो सारा देश, सारा विश्व—नव-निर्माण की विचारधारा से प्रकाशवान् हो सकता है। रोज एक घंटा समय—महीने में एक दिन की आजीविका—न्यूनतम दस-बीस पैसे रोज का अनुदान बीस महीने के लिए माँगा गया है। इतना कर सकना किसी भावनाशील व्यक्ति के लिए तनिक भी कठिन नहीं हो सकता। यह थोड़ा-थोड़ा सहयोग अपने विशाल परिवार के सदस्यगण करने लगें तो ज्ञान यज्ञ की लपटें आकाश छूने लगें और उसकी सुगंध तथा ज्योति से दशों दिशाएँ सुरभित एवं प्रकाशवान् दीख पड़ने लगें। ज्ञान यज्ञ की सफलता पर नव-निर्माण की ज्ञान गंगा का अवतरण अविच्छिन्न रूप

से संबद्ध है। विचार क्रांति के साथ सतयुग का वातावरण उत्पन्न और सुविस्तृत होता चला जाएगा।

दूसरा कार्य है—दुर्बुद्धि और दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन का। इस मोर्चे पर सबसे अधिक विषमता खर्चीली शादियों की खाई है। इसे पाट लिया गया तो समाज-सुधार की अन्य छुट-पुट प्रक्रिया सहज ही संपन्न हो जाएगी। स्पष्ट है कि 'विवाहोन्माद' हिंदू समाज के शरीर पर गलित कुष्ठ एवं विष व्रण की तरह है। उनके कारण सारा समाज बुरी तरह गलता चला जा रहा है। लोग बुद्धि बेचकर, अपनी हैसियत को भूलकर पागलों की तरह ब्याह-शादियों में पैसे की होली फूँकते हैं। हम गरीब देश के निवासी उद्योग-धंधों के अभाव में बहुत ही स्वल्प आजीविका कर पाते हैं। औसत आमदनी मुश्किल से प्रतिदिन दस रुपया है। ऐसे दरिद्र देश के निवासी अपना पेट भर लें, वही बहुत है। आजकल मँहगाई आसमान को छू रही है। अन्न, वस्त्र, मकान, शिक्षा, चिकित्सा, आतिथ्य जैसी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने भर के लिए पैसा जुट नहीं पाता, फिर इतनी बचत कहाँ से हो, जिसके आधार पर हर बच्चे के विवाह में हजारों रुपयों की होली फूँकी जाए ?

प्रचलित प्रथाओं के आधार पर लड़के वाला अनाप-शनाप दहेज और बर्तन, फर्नीचर, कपड़ा, रेडियो, टी० वी०, मोटरसाइकिल, मेवा, मिठाई आदि उपहार माँगता है। बेटी वाला अपनी लड़की को सोने-चाँदी से लदी और मखमली रेशमी साड़ियों से सजी अप्सरा देखना चाहता है। तमाशबीन आतिशबाजी, बैंड, नाच-रंग, दावत, धूम-धाम, सजावट का मजा देखना चाहते हैं। यह सारा सरंजाम बहुत महँगा पड़ता है। दोनों पक्ष बुरी तरह लुटते हैं और अपनी बरबादी कर लेते हैं। मिलता किसी को कुछ नहीं। बेटे वाला जो उपहारों का कूड़ा-कबाड़ पाता है, उससे घर घिरता है। जरूरत उनकी कुछ थी नहीं, बिकता वह नहीं, उसके लिए सब कुछ बेकार। जो पैसा दहेज में मिला, उतना तो धूम-धाम और दावत में

उड़ जाता है। लड़की के जेवर-कपड़े, उसे भी कर्ज लेकर या घर खाली करके बनवाने पड़ते हैं। लड़की वाले को दहेज-उपहार के अतिरिक्त अपने पक्ष की भी आव-भगत करनी पड़ती है। वह दूना मरता है। तमाशबीनों का तो कहना क्या है, उनकी जेब से कुछ थोड़े ही जाता है। धूम-धाम देखी तो वाहवाही, सुस्ती दीखी तो खिल्ली उड़ाई। वहाँ तीन-चार दिन तक गर्दन तोड़ बुखार की तरह विवाहोन्माद आता है और अर्थव्यवस्था को बेतरह तोड़-मरोड़कर रख जाता है।

हर गृहस्थ के घर में कई बच्चे होते हैं। मध्यम वृत्ति के व्यक्ति का विवाह १०-१५ हजार तो माँगता ही है। ४-५ बच्चे हुए तो ४०-५० हजार रुपया चाहिए। यह कहाँ से आये ? लोगों को विवश होकर बेईमान और दुष्टता के तरीके उपार्जन के लिए अपनाने पड़ते हैं। अपराध बढ़ते हैं और फैलती हुई दुष्प्रवृत्तियाँ व्यक्ति के चरित्र और समाज की व्यवस्था को चकनाचूर करके रख देती है। अधिकांश व्यक्ति अपने घर-बर्तन बेचकर असहाय बन जाते हैं और सारे परिवार को अभावग्रस्त एवं अंधकारपूर्ण जीवन जीना पड़ता है। कितनी ही सुयोग्य कन्याएँ कुपात्रों के घर जाती हैं, कितनी आत्म-हत्याएँ करती हैं, कितनी ही अविवाहित रहती हैं और कितनी ही गर्भ गिराती हैं। चिंता में डूबे हुए लाखों परिवार शारीरिक और मानसिक रोगों से ग्रस्त होकर अकाल के ही काल-कवलित होते हैं। विवाहोन्माद ने सारे समाज को बुरी तरह विकृत कर रखा है।

इस दुर्बुद्धि के विरुद्ध लड़ा जाना चाहिए और इस कुप्रथा का उन्मूलन किया जाना चाहिए। इस मोर्चे पर अग्रसर होकर हम समाज की महती सेवा कर सकते हैं। हर गृहस्थ की २५ हजार रुपयों की भी बर्बादी बचा दी गई, तो अपने युग निर्माण योजना परिवार के ५० लाख सदस्यों के घरों में १ खरब २५ अरब रुपया बचाया जा सकता है। सारे देश से यह कुप्रथा उठ जाए तो इतना

पैसा बच सकता है, जितना सारी सरकारी पंचवर्षीय योजना भी नहीं बचा सकती। इस पैसे को यदि स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, उद्योग आदि में लगाया जा सके तो देश की समृद्धि कुछ ही समय में संसार के समृद्ध देशों की तुलना में जा पहुँचेगी और हम विज्ञान, संस्कृति सुरक्षा तथा वैयक्तिक स्तर की दृष्टि से भारी प्रगति कर सकते हैं। इस उन्माद को मिटा देना उच्चकोटि की देशभक्ति का एक अति महत्त्वपूर्ण कार्य ही माना जा सकता है। बड़ा मोर्चा फतह होने पर छोटी कुरीतियाँ और दुष्प्रवृत्तियाँ अनायास ही बेमौत मर जाएँगी और सामाजिक उत्कर्ष के अभिनव दृश्य दीखने लगेंगे।

इस संदर्भ में आवश्यक यह है कि उपजातियों के बंधन ढीले किए जाएँ। जाति के अंतर्गत विवाह करने की बात समझ में आती है। पर उपजातियों का अड़ंगा तो बिल्कुल बेसिर-पैर का है। न उनका कोई इतिहास है न कोई कारण। वर्ण चार ही थे। फिर यह उपजातियाँ कहाँ से टपक पड़ीं ? जातियों का विशाल दायरा विवाहों के लिए खोल दिया जाए तो इससे एक भारी असुविधा दूर होगी और व्यापक क्षेत्र में अच्छे वर-कन्या ढूँढ़ निकालना सब प्रकार सुविधाजनक होगा।

हममें से प्रत्येक परिजन को इस विवाहोन्माद का उन्मूलन और आदर्श विवाहों की परंपरा प्रतिष्ठापित करने वाले आंदोलन को व्यापक और सफल बनाने में शक्ति भर योग देना चाहिए। लड़के वाले इस संबंध में पहल करें, क्योंकि खलनायकों की अग्रिम पंक्ति में होने से उन्हीं की बदनामी बहुत है। प्रायश्चित्त के लिए भी उन्हें ही आगे आना चाहिए। धन और रूप के लालच में न पड़कर गुणवती कन्याएँ पसंद करनी चाहिए। भले ही वे कम रूपवती और निर्धन परिवार की हों। ऐसी ही लड़कियाँ किसी के यहाँ जाकर गृहलक्ष्मी की भूमिका प्रस्तुत कर सकती हैं। अभिभावक धन का और लड़के रूप का मोह छोड़ दें तो

उनके घरों में गृहलक्ष्मियाँ पहुँचें और गृहस्थ में स्वर्गीय वातावरण अवतरित हुआ दीख पड़ने लगे। पहल करना लड़के वालों का काम है। इसलिए जिनके यहाँ लड़कियाँ हैं, उनसे भी और विशेषतया उनसे जिनके यहाँ लड़के विवाह योग्य हैं इस आंदोलन में अधिक उत्साह और अधिक साहस प्रदर्शन करने के लिए कहा जा रहा है।

हमारा मूल उद्देश्य परिजनों के अंतःकरणों में आदर्शवादिता के लिए साहस उत्पन्न करने का है। ज्ञान यज्ञ की पुण्य-प्रक्रिया गतिशील हो सके तो करोड़ों व्यक्तियों को विवेक, तर्क, तथ्य का सहारा लेकर सोचने की प्रेरणा मिल सकती है। सुलझी हुई उत्कृष्ट विचारधारा व्यक्ति और समाज को प्रगति एवं शांति की ओर अग्रसर करेगी। भ्रांत विचारधाराओं ने हमें पतन के गर्त में गिराया है। विवेक का सहारा लेकर इस पतन को उत्थान में बदला जा सकता है। इसलिए हम साहस समेटकर विचार क्रांति की चिनगारियाँ घर-घर पहुँचाने का प्रयत्न करें, ताकि हमारी समस्त गतिविधियाँ सज्जनोचित रीति-नीति पर आधारित हो सकें।

❐ ❐

# हम साहस करें और प्रगति पथ पर आगे बढ़ें

प्रगति की आकांक्षाएँ कितने ही मनुष्य करते रहते हैं पर सफलता केवल उन्हें मिलती है, जो साहसी हैं। साहस एक ऐसा गुण है, जिसके अभाव में अन्य सारे गुण निष्प्रभ और निरर्थक बने रह जाते हैं। आगे बढ़ने के लिए कदम उठाने होते हैं और अगले दिनों जो अविज्ञात आशंकाएँ संभावित होती हैं, उनके लिए तैयार रहना होता है। यदि यह तैयारी न हो—झिझक, आशंका, संकोच, भय, अनुत्साह घेरे हुए हों तो फिर कदम आगे बढ़ेंगे ही नहीं। बढ़ेंगे तो डरते-डरते। मन में असफलता एवं कठिनाइयों की कुकल्पनाएँ उठती रहेंगी। साहस और संकोच दोनों साथ-साथ चलते रहे तो फूटे बर्तन में दूध दुहने की तरह एक का लाभ दूसरे की हानि में समा जाएगा और पल्ले कुछ न पड़ेगा। कोई महत्त्वपूर्ण कार्य केवल वही कर पाते हैं, जो साहस के धनी हैं और कठिनाई से लड़ने के लिए आवश्यक शौर्य सँजोये हुए हैं।

दुनिया में वीर पूजा प्रचलित है। सम्मान उन्हें मिलता है जो शौर्य प्रदर्शित कर सके हैं। कायर और डरपोक मनुष्य जिनके पैरों में झिझक, संकोच और आशंकाओं की तिहरी जंजीरें कसी हैं, कैसे आगे बढ़ सकेंगे ? प्रगति की आकांक्षा करते रहना—उसके सपने देखते रहना ही पर्याप्त नहीं—अभीष्ट को उपलब्ध करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ भी करना होता है और पराक्रम के लिए पहली आवश्यकता साहस की होती है। हिम्मत करने वाला आगे बढ़ता है—कठिनाइयों से वही जूझता है—प्रतिकूलताओं को अनुकूल बनाने की सफलता उसे ही मिलती है और ईश्वर की सहायता भी उसी के लिए सुरक्षित है। कायर और डरपोक की सहायता न मनुष्य करता है, न परमात्मा; क्योंकि यह सच्चाई सर्वविदित है कि केवल साधनों के बल पर कोई आगे नहीं बढ़ सका। आगे तो गुण बढ़ाते हैं और उन गुणों में सर्व प्रधान है—साहस। जिसमें साहस

नहीं, वह सफल न हो सकेगा। जिसे असफलता ही मिलने वाली है, ऐसे कायर को कोई क्यों सहायता दे और क्यों अपनी उपलब्धि को निरर्थक बनाएँ ?

छोटे-छोटे दैनिक कार्यों को सफलतापूर्वक संपन्न करने के लिए साहस की जरूरत होती है। आत्म-ज्ञान के बिना, अपने ऊपर कड़ाई बरते बिना छुटपुट दैनिक कार्यों को निपटाना भी संभव नहीं। आलस्य और प्रमाद, जिंदगी को बरबाद करने वाले, असफलताओं की लंबी माला गले में पहनाते चलने वाले दो प्रख्यात दुर्गुण हैं और इन दोनों का ही जन्म साहसहीनता की माँद में से होता है। प्रगति में सांसारिक कठिनाइयाँ ही अवरोध उत्पन्न नहीं करतीं, सबसे बड़ी बाधा उत्पन्न करता है—अपना दुर्बल मन। परिश्रम और पुरुषार्थ में अपने ऊपर कड़ाई बरतनी पड़ती है। अन्यथा न शरीर श्रम करना चाहेगा और न मन एक दिशा में नियोजित होगा। दोनों को ही आराम चाहिए और स्वच्छंदता से देर तक एक दिशा में नहीं लगे रहना चाहते, क्षण-क्षण में इधर-उधर को मटरगश्ती करना चाहते हैं। परिश्रम का दबाव उन्हें पसन्द नहीं। मौज-मजा करने की प्रवृत्ति उन्हें घेरे रहती है। ऐसी दशा में यदि आत्म-नियंत्रण का साहस न हो। अपने साथ सख्ती बरत कर बलात्कारपूर्वक उन्हें किसी काम में जोते न रहा जाए तो निश्चय ही कोई कार्य निरंतर-तत्परता और मनस्वितापूर्वक नहीं हो सकता। जो आत्म नियंत्रण कर सकता है—मन और शरीर पर शासन कर सकता है—उन्हें बलपूर्वक अभीष्ट दिशा में नियोजित किये रह सकता है, उसी मनस्वी को अपने इन दो प्रधान कार्यवाहकों—शरीर और मन के उत्पादनों का लाभ उपलब्ध हो सकता है। दूसरे लोग तो केवल कल्पना-जल्पना करते और हाथ मलते रह जाते हैं।

साहस का प्रथम प्रयोग है—आत्म-नियंत्रण। जितना श्रम आवश्यक है शरीर उतना नहीं करना चाहता। वह कोई न कोई

बहाना बनाकर काम करने में ढील करता है। तत्परता नहीं बरतता। प्रस्तुत कार्यक्रम में उपेक्षा और लापरवाही बरतता है। अन्य-मनस्वतापूर्वक किया गया काम अधूरा, लँगड़ा-लूला, काना-कुबड़ा और अनुत्पादक होता है। शरीर को बड़ी ढील और सुविधा तो मिल जाती है, पर काम में बहुत विलंब करने के उपरांत नगण्य-सी सफलता मिलती है। आलस्य का यही स्वरूप है। आलसी व्यक्ति कुछ करता तो दीखता है—बेकार बैठा भी नहीं लगता—पर कार्य की गति इतनी मंद होती है कि लेखा-जोखा लेने पर परिणाम नगण्य-सा ही सामने आता है। जितने समय में मनस्वी और तत्पर व्यक्ति एक सेर काम निपटा लेते हैं, उतने समय में आलसी के लिए एक छटाँक भी कर सकना कठिन होता है। समय गुजरता रहता है, किंतु 'सारी रात पीसा, कटोरी भर बटोरा' वाली कहावत चरितार्थ होने के अतिरिक्त मिलना कुछ नहीं। आलस्य जहाँ घुसा बैठा हो, वहाँ कोई बड़ा पुरुषार्थ संभव नहीं। पराक्रम की समुचित मात्रा होने पर ही सफलताएँ उपार्जित की जाती हैं। यह गुण न हो तो सफलता क्यों, कैसे, कहाँ और किसे मिल सकती है ? आत्म नियंत्रण ही वह गुण है, जो बलात् शरीर को श्रम में नियोजित कर प्रगति के पथ पर अग्रसर करता है और वह आत्म-नियंत्रण की क्षमता साहस से उत्पन्न होती है। साहसी ही शरीर के साथ कठोरता बरत सकता है और वही उसे आलस्य के दुर्गुण से मुक्ति दिला सकता है।

प्रगति का दूसरा आधार उपकरण है—मन। मन में गजब की उत्पादक शक्ति भरी पड़ी है। उसका ठीक प्रकार उपयोग हो सके तो सामान्य स्तर का मनुष्य अपनी सुसुप्त-महत्ताओं और विशेषताओं को सजग बनाकर अपने व्यक्तित्व में असाधारण प्रतिभा उत्पन्न कर सकता है। मन को स्वच्छंद छोड़ दिया जाए—जिधर उसे अच्छा लगे उधर ही चलने दिया जाए तो फिर किसी महत्त्वपूर्ण दिशा में उसकी गति कदापि न होगी। जिस प्रकार

शरीर की पशु प्रवृत्ति आलसी बनने की है, उसी प्रकार मन की पाशविकता स्वच्छंदता और उसके बाद उच्छृंखलता में ही प्रवृत्त रहना चाहती है। महान् कार्यों में उस ओछे स्तर की—उस भोंडे ढंग की सरसता नहीं होती, जिनका कि मन निष्कृत योनियों में रहते-रहते अभ्यस्त बना बैठा है। इसलिए वह प्रगति की नियंत्रण भरी दिशा में चलने से इनकार करता है। प्रमाद में समय गुजारना उसे प्रिय है। कितने मनुष्यों का मस्तिष्क बड़ा तेज और उर्वर होता है, पर वे प्रमादग्रस्त बने हुए अस्त-व्यस्त रीति-नीति अपनाये रहते हैं और उस मानसिक प्रखरता का कुछ भी लाभ नहीं उठा पाते, जबकि मंद बुद्धि अपनी नियमितता और व्यवस्था का संबल मजबूती से पकड़े रहकर दिन-दिन प्रगति करते हुए ऊँचे उठते और आगे बढ़ते चले जाते हैं।

आत्म-नियंत्रण का सद्गुण अपनाकर मनस्वी लोग अपने व्यक्तित्व को प्रखर बनाते हैं। मन की क्षमताओं का सदुपयोग कर सकना प्रगति की आधारशिला को सुदृढ़ बनाना है और यह कार्य कहीं बाहर नहीं भीतर ही करना पड़ता है। बाहर के कठिन कार्य संपन्न करने के लिए जितनी मनस्विता आवश्यक है, उससे कम आंतरिक सुव्यवस्था संपन्न करने के लिए भी नहीं चाहिए। साहसी व्यक्ति ही शरीर और मन को धमकाकर उन्हें स्वेच्छाचार बरतने से विरत कर सकता है। सरकस में काम करने वाले हिंसक जानवरों को सिखा-पढ़ाकर मनोरंजनकारी खेल दिखा सकने के लिए तैयार कर लेने जैसी कुशलता ही मन और शरीर के नियंत्रण में अभीष्ट है। यह कार्य साहसी ही कर सकता है। जो अपने आप में, अपने शरीर और मन के नियुक्त सेवा वाहनों से डरता है—उनका सदुपयोग कर सकने की भी हिम्मत नहीं रखता, उसे पुरुष कैसे कहा जाए ? पुरुष तो पौरुषशील को, पुरुषार्थी-पराक्रमी, मनस्वी और साहसी को कहते हैं। जो अपने साधन और वाहनों से ही डर जाए—उन्हीं के सामने आत्मसमर्पण कर बैठे, उसे तो

कापुरुष-कायर ही कहा जाएगा। ऐसे व्यक्ति प्रगति की, सफलताओं की, सम्मान और गौरव की बात सोचें, तो उनका यह सोचना वृथा है। इस संसार में हर वस्तु अपना मूल्य माँगती है। बिना मूल्य यहाँ किसी को कुछ नहीं मिलता। जो उन्नति करना चाहता हो, प्रगति का आनंद लेना चाहता हो, उसे साहसी होने की प्रथम योजना का संपादन तो करना ही चाहिए।

हममें से अधिकांश व्यक्ति कायर प्रकृति के होते हैं। उन्हें हर बात में भय की प्रतीति होती है। अपनी शक्ति कम है, कार्य बड़ा है, उसमें अनेक कठिनाइयाँ आ सकती हैं, साधनों का अभाव है, कोई सहयोगी नहीं दीखता आदि, अगणित प्रकार की आशंकाएँ भीतर ही भीतर उठती रहती हैं। हर आशंका हिम्मत तोड़ती है। लोग इच्छा तो सफलता की करते हैं, पर असफलता-आशंकाओं के मानचित्र मस्तिष्क में बनाते-सँजोते रहते हैं। जो महल बनाने की इच्छा करे और कुआँ खोदने की क्रिया करे, तो उसका मनोरथ कैसे पूरा होगा ? कायरता कुकल्पनाएँ पैदा करती है। डरपोक व्यक्ति अपनी सत्ता और महत्ता पर विश्वास नहीं करता। ऐसी स्थिति में प्रसुप्त क्षमताओं का मूल्य किस प्रकार चुकाया जा सकता है और बिना मूल्य चुकाये इस खरीद-फ़रोख्त की दुनिया में कोई वर्चस्व कैसे पाया जा सकता है ?

मनस्विता मानव प्राणी का सबसे बड़ा गुण है। उसके अभाव में जीवन रहते हुए भी मृतक की सत्ता रहती है। जिसकी हिम्मत मर गई, उसकी काया भले ही न मरे, जीवितों में गणना नहीं हो सकती। जीवित वे हैं जिनकी आशा जीवित है, जो अपनी महत्ता पर विश्वास करते हैं और सोचते हैं कि आत्म-नियंत्रण पूर्णतया अपने बस की बात है। दूसरा कोई अपना कहना न माने, यह बात समझ में आती है, पर यह समझना कठिन है कि अपने आप पर भी अपना नियंत्रण स्थापित न किया जा सके। अपना शरीर और मन भी अपना कहना न माने तो फिर और कोई बाहर का क्या अपने

परामर्श-निर्देश स्वीकार करेगा ? यदि भीतर या बाहर अपना कोई प्रभाव न हो तो सफलता की आशा किस बल-बूते पर, किस आधार पर की जा सकती है ?

मनुष्य की महत्ता उसके साहस पर अवलंबित है। छुट-पुट दैनिक कार्यों को ठीक तरह निपटाना जिस अनुशासन, चातुर्य, कुशलता और व्यवस्था पर निर्भर है, उसे दूसरे शब्दों में साहसिकता ही कहना चाहिए। प्रगति के पथ पर अग्रसर करने में कोई देव-दानव, ग्रह-नक्षत्र, साधन-अनुदान कारण नहीं होते, वरन् व्यक्ति के सद्गुणों पर ही सारी सफलताएँ आधारित रहती हैं। यह सद्गुण भाग्यवश अनायास ही कहीं आकाश से नहीं टपक पड़ते, वरन् तिल-तिलकर आत्म-नियंत्रण की प्रक्रिया द्वारा इन्हें उत्पन्न करना और बढ़ाना पड़ता है। यह अपनी व्यक्तिगत कृषि है, जिसे चतुर किसान की तरह जोतना, बोना, सींचना और रखना पड़ता है, तभी संपन्नता से घर भर देने वाली अच्छी फसल उपलब्ध होती है। दुर्गुणों की तरह सद्गुण भी अपने भीतर ही भरे पड़े हैं। समुद्र के किनारे पर खड़े रहने वालों को लहरों द्वारा फेंका गया कूड़ा-कचरा ही हाथ लगता है; पर जो गहरे गोते लगाते हैं, उन्हें झोली भर मोती कमाने का भी लाभ मिल जाता है। मोती कमाने वाले गोताखोरों की तरह जीवन को प्रगतिशीलता से सुसज्जित करने के लिए भी साहस का आधार चाहिए। साहसी ही आगे बढ़ते हैं, साहसी ही ऊँचे उठते हैं। विजय की बैजंती केवल उनके गले पहनाई जाती है, जो साहसपूर्वक अपने पुरुषार्थ को प्रखर बना सकने में समर्थ हो सकें।

नवनिर्माण का प्रथम करण आत्म-निर्माण है। इस महान् अभियान का शुभारंभ हमें अपने आप से करना होगा। अपनी उपेक्षा करें, दूसरों को उपदेश करें, यह चलन अब बहुत बदनाम हो गया है। धर्मोपदेशकों और भजनोपदेशकों के खोखलेपन से अब सब कोई परिचित हो गये हैं। इसलिए उस आधार पर अब कोई बड़े

काम नहीं हो सकते। नव-निर्माण की अपने बल से संबंधित संभावनाओं की जानकारी तो लोगों को करानी चाहिए, सो उचित भी है और आवश्यक भी। पर यह मान बैठना गलती होगी कि एक-दूसरे को उपदेश करते रहें तो कोई बड़ा काम बन जाएगा। मूल्य चरित्र और व्यक्तित्व का है। उसी से व्यक्तित्व-उत्कर्ष का द्वार खुलता है और उसी आधार पर परिवार और समाज के सुधार एवं विकास की संभावना प्रशस्त होती है। यह निर्माण कार्य साहस की उपेक्षा करता है। झेंपू, संकोची, शंकाशील और भीरु प्रकृति के उसे नहीं कर सकते। हर कार्य साहसी ही पूरा करते हैं, फिर नव-निर्माण जैसे महान् कार्य के लिए उसकी आवश्यकता अनिवार्य रूप से क्यों न होगी ?

हमें साहस एकत्रित करना चाहिए और उसे निरंतर बढ़ाना चाहिए। कायरता जहाँ-जहाँ अपने में छिपी पड़ी हो उसे ढूँढ़ निकालना चाहिए और हिम्मत के साथ सबसे पहले उसी पर हमला करना चाहिए। इस युग की अगणित दुष्प्रवृत्तियाँ—जो अगणित क्षेत्रों में फैली पड़ी हैं, उनके साथ संघर्ष अनिवार्य रूप से करना पड़ेगा। संघर्ष के बिना दुष्प्रवृत्तियाँ न कभी हटी हैं और न आगे हटेंगी। हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से न कुछ समाधान होने वाला है, न सुधार, न परिवर्तन। विकृतियाँ होती हैं उत्पन्न वहाँ ही—जहाँ प्रवाह और परिवर्तन का क्रम रुक जाता है। रुका पानी ही सड़ता है, बहता हुआ नहीं। शरीर में जब तक श्वास-प्रश्वास क्रिया—रक्त संचरण, आकुंचन-प्रकुंचन, ग्रहण-निष्कासन का क्रम चलता रहता है, जीवन बना रहता है; किंतु जहाँ यह प्रवाह मंद हुआ कि रोगों का आक्रमण हुआ। जहाँ यह प्रवाह बंद हुआ कि मौत आ धमकी। सक्रियता का नाम ही जीवन है और प्रवाह के अवरोध का नाम मृत्यु। अवरोध ही विकृतियाँ उत्पन्न करता है। पिछले दिनों सुधार और संघर्षों का क्रम मंद होते-होते बंद होने की स्थिति में आ गया। फलस्वरूप वे विकृतियाँ जन्मीं और पनपीं, जिनके कारण आज

सारा समाज शोक, संताप और क्लेश, द्वेष की पीड़ाओं से संत्रस्त हो रहा है।

साहस के अभाव में न सुधार हो सकता है और न संघर्ष। इसके बिना परिवर्तन की संभावना कहाँ ? विकृतियाँ अपने आप ही विदा नहीं हो जातीं—उनसे जूझना पड़ता है और जूझना साहसी का काम है। भीरु तो अपनी जान बचाता फिरता है, कायर तो अपने मतलब से मतलब रखता है, झंझटों में पड़ने का उसका जी नहीं चाहता, जिस ढर्रे पर गाड़ी लुढ़क रही है, जैसा भी कुछ बुरा-भला हो रहा है, उसी को सनातन-परंपरागत-प्रारब्ध आदि मानकर संतोष कर लेता है। विपन्न परिस्थितियों से कष्ट मिला तो उसका दोष भाग्य, ईश्वर, ग्रह-दशा, समय अथवा किन्हीं अन्य व्यक्तियों पर थोपने की आत्म-प्रवंचना द्वारा जी हलका कर लेता है। परिस्थितियाँ बदलने में संघर्ष करना पड़े, इसकी अपेक्षा उसे जैसा जो कुछ है, उसे ही भुगतते रहना सरल लगता है। इस स्तर के साहसविहीन व्यक्ति दुख-दारिद्रय का कष्ट भुगतते हुए असफलता का अभिशाप ही सहन करते हैं।

इन दिनों कुछ ऐसी ही स्थिति बन गई है। हजार वर्ष तक लगातार राजनैतिक गुलामी की स्थिति में पड़े रहने के कारण हमारा शौर्य एक प्रकार से मृतक अथवा मूर्च्छित हो गया है। आपस में एक-दूसरे का शोषण, अपहरण करने में हम चतुर हैं। छल, कपट, ढोंग, विश्वासघात और प्रवंचनाओं की कला में दिन-दिन कुशल होते चले जा रहे हैं। अनैतिकता और अनाचार का सहारा लेकर आगे बढ़ने की दुष्ट दुर्बुद्धि अपना रहे हैं, पर उस साहस को अपनाने के लिए तत्पर नहीं होते, जो प्रतिभा का विकास, समृद्धि का उद्भव और सफलता का आधार प्रस्तुत कर सकता है। ऐसा समाज और ऐसा व्यक्ति कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कहाँ कर सकेगा और साहसी कदम बढ़ाए बिना विपन्नताओं एवं विकृतियों का निराकरण कैसे संभव होगा ? जहाँ नस-नस में भीरुता व्याप्त हो

रही हो, वहाँ अंधकार भरे दुर्भाग्य की ही चिरस्थायी संभावना बनी रहेगी। हमारी आज की राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति ऐसी है, जिसकी सर्वत्र एक स्वर से निंदा होती है, पर बदलाव की कोई सूरत दिखाई नहीं पड़ती; क्योंकि जहाँ साहस का अभाव है, वहाँ दैन्य-दारिद्रय तो रहने ही वाला है। कायरों को तो प्रकृति अभाव, अशक्ति और अज्ञान के गर्त में धकेलकर रोते-कलपते अपनी मौत मर जाने के लिए छोड़ देती है, ताकि धरती का भार हलका हो सके।

आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि व्यक्ति में सर्वतोमुखी साहस पैदा किया जाए। इस उद्‌भव के आधार पर उत्कृष्ट व्यक्तियों का निर्माण संभव होगा। दुर्गुणों को हटाकर सद्‌गुणों की स्थापना कर सकना शूरवीरों का काम है। अपने आप के चारों ओर फैली हुई विपन्न परिस्थितियों से लड़ने का कार्य कोई योद्धा ही कर सकता है। योद्धा उसे नहीं कहते, जो बंदूक-तलवार चलाना जानता है, वरन् वह है जो विपन्न परिस्थितियों में धैर्यपूर्वक राणा प्रताप की तरह देर तक लड़ता रह सकता है। शूरता लड़ाई जीतने या शत्रु को पछाड़ने तक सीमित नहीं, उसका असली परिचय तो आंतरिक और बाह्य जीवन की विकृतियों का निराकरण करने में मिलता है। वीरता अस्त्र-शस्त्र के आघात से न डरने में ही नहीं, वरन् स्वार्थ और संकीर्णता भरे जनमत को ठुकराते हुए न्याय, नीति और विवेक के पथ पर बढ़ चलने में है। आज हर क्षेत्र में दुरभिसंधियों के चक्रव्यूह रचे हुए हैं, इन्हें तोड़ने के लिए ऐसे अभिमन्यु चाहिए, जो अकेले ही लड़ने और आगे बढ़ने का अटूट धैर्य और असीम साहस अपने भीतर भरे हुए हों।

हमारे व्यक्तिगत जीवन अगणित समस्याओं और कुंठाओं से भरे पड़े तमसाछन्न हो रहे हैं। उसका एकमात्र कारण अपने अंदर सद्‌गुणों की न्यूनता और दुर्गुणों की भरमार है। आलस्य

और प्रमाद, अशिष्टता और उद्दंडता, फैशन और अपव्यय, व्यसन और असंयम, निकृष्ट और स्वार्थ, घृणित और संकीर्णता, अव्यवस्था और अनास्था, अविवेक और अहंकार, द्वेष और दुर्भाव, अनाचार और असहयोग जैसे अगणित दोष-दुर्गुणों से भरे हुए व्यक्तित्व भला कोई महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर सकते हैं। कुत्तों की तरह किसी तरह पेट पाल लें, इतना ही उनके लिए बहुत है। वर्चस्व तो सद्गुणों के आधार पर मिलता है। सफलता उनका वरण करती है, जिनके व्यक्तित्व प्रखर हैं। मनस्वी की ही प्रतिभा चमकती है और दृढ़ चरित्र मनुष्य ही कुछ कहने लायक काम करके दिखाते हैं। उज्ज्वल भविष्य का निर्माण सद्गुणों के आधार पर ही संभव है। परिश्रमी और पुरुषार्थी, संयमी और सदाचारी, सौम्य और सज्जन, मधुर और सहृदय, उदार और सेवाभावी, विवेकी और दूरदर्शी, धैर्यवान् और पराक्रमी प्रकृति के मनुष्य ही आगे बढ़ते हैं और विजयश्री का वरण करते हैं। दुर्गुणों को ढूँढ़-ढूँढ़कर परास्त करना और उनके स्थान पर सद्गुणों की सुदृढ़ प्रतिष्ठापना करना बहुत बड़ा काम है। जो आत्म-सुधार एवं आत्म-निर्माण कर सकता है, उसे ही सच्चे अर्थों में शूरवीर कहा जाएगा। आज ऐसे ही योद्धाओं की आवश्यकता है, जो अपने को बदलें और सारे समाज को बदल डालने की भूमिका प्रस्तुत करें।

साहस का विकास आत्म-निर्माण का कार्यक्रम अपनाकर आरंभ किया जा सकता है। प्रातःकाल उठते ही आत्म-समीक्षा करें, जो दोष-दुर्गुण दिखाई पड़ें, उनको निरस्त करने के लिए आज की शारीरिक और मानसिक क्रियापद्धति निर्धारित करें। दिन भर शरीर का कब, कैसे, कहाँ उपयोग किया जाना है ? इसकी पक्की दिनचर्या बना लेनी चाहिए और उसका अति कठोरता के साथ पालन करना चाहिए। समय का एक छोटा अंश भी बरबाद न होने पाए। श्रम से जी चुराने का तनिक भी अवसर न मिले। उदास और अन्यमनस्क होकर नहीं, हर सामने

प्रस्तुत कार्य पूरे उत्साह और मनोयोग के साथ किया जाए। काम छोटा है या बड़ा, इसका विचार न करते हुए, जो कुछ भी किया जाए वह शानदार, उत्कृष्ट और सर्वांगपूर्ण हो, इसका ध्यान रखा जाए। नियत समय पर काम करना और उसे अस्त-व्यस्त—अधूरा न छोड़ना, यह अपनी आदत बन जाए इसके लिए आवश्यक है कि विचारपूर्वक दिनचर्या बनाई जाए और कड़ाई के साथ उसका पालन किया जाए।

शरीर की ही तरह मन की सुव्यवस्था भी आवश्यक है। मन का सबसे बड़ा दोष निर्धारित कार्यक्रम पर न लगना, बार-बार उचट जाना है। दुर्बल प्रकृति के मनुष्य मन के आगे आत्म-समर्पण कर देते हैं। मन न लगा तो काम छोड़ देते हैं और जिधर मन चाहता है, उधर बहने लगते हैं। यहीं दृढ़ता की जरूरत है। जिस प्रकार घोड़े या बैल का जोतने वाला इन वाहनों की मर्जी नहीं चलने देता, वरन् प्रताड़ना देकर अपनी इच्छानुसार चलाता है, उसी प्रकार मन को भी बलात्कारपूर्वक नियत-निर्धारित काम में लगाना पड़ता है। मन उचटे, जी न लगे तो भी जबरदस्ती उसे उसी काम पर उतने ही समय तक जोते रखा जाए, तो कुछ ही दिनों में वह अल्हड़ बछड़ा समझ जाता है कि उचटने, भागने से कुछ बनने वाला नहीं है। अस्तु नियमपूर्वक काम में लगे रहना ही ठीक है। अभ्यस्त घोड़े ताँगे के नीचे और अभ्यस्त बैल चुपचाप आगे बढ़कर जुए के नीचे अपनी गर्दन स्वयं फैला देते हैं। बलात्कारपूर्वक सधाया हुआ मन सरकस के खूँखार जानवर जैसा होते हुए भी अभ्यस्त हो जाता है और सब काम ठीक तरह करने लगता है।

मन की दुष्प्रवृत्तियों को भी ढील न दी जाए और अचिंत्य चिंतन करते ही उसे रोक दिया जाए। दुष्ट चिंतन के विपरीत सत् चिंतन को अड़ा दिया जाए—अवांछनीय कल्पनाओं के उठते ही कुमार्ग की हानियों का चिंतन करने लग जाएँ तो कुकल्पनाएँ रुक सकती हैं। बुरे स्वभाव के प्रबल होते ही उसे रोकने की भूमिका

पहले से ही बाँध रखी जाए तो उस उफान को सहज ही शांत किया जा सकता है। शरीर और मन को नियंत्रित करके जीवन साधना की दिशा में भारी प्रगति हो सकती है और ऐसे प्रखर व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है, जो हर दृष्टि से प्रतिभासंपन्न हो और हर क्षेत्र में सफलताएँ प्राप्त कर सके।

साहस के अभिवर्धन का सबसे पहला प्रयोग हमें अपनी शारीरिक और मानसिक बुरी आदतों के विरुद्ध संघर्ष छेड़कर करना चाहिए। दिन भर अपने शारीरिक क्रियाकलापों और मानसिक विचारणाओं पर बारीक नजर रखनी चाहिए और जहाँ भी अनुपयुक्त दीखे तुरंत प्रताड़ना देनी चाहिए। रात्रि को सोते समय दिन भर की क्रियाओं और विचारणाओं की समीक्षा करनी चाहिए। निर्धारित प्रक्रिया का अपने से उस दिन जितना उल्लंघन हुआ है, उसके अनुसार अपने को दंड देना चाहिए। (१) भोजन का कोई अंश या पूरा ही कम करना। (२) नींद में कमी करके जागना। (३) कान पकड़ के उठक-बैठक लगाना जैसे शारीरिक दंड उसी दिन अपने को दे दिये जाएँ और आगे वैसा न करने की कड़ी चेतावनी दे दी जाए, तो अगले दिन वैसी संभावना कम ही रह जाती है। निरंतर ऐसी देखभाल रखने से कुछ ही दिन में दोष-दुर्गुणों के निराकरण और सद्गुणों के अभ्यास में भारी सफलता मिल सकती है। इस आत्म-निर्माण की प्रक्रिया में मनोबल और साहस ही अपेक्षित है। जिसने यह शौर्य प्रदर्शित कर लिया, समझना चाहिए कि उसने आत्म-विकास एवं उज्ज्वल भविष्य निर्माण की एक बड़ी मंजिल पार कर ली।

यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि प्रगति का प्रथम सोपान साहस है। इसके बिना न व्यक्तिगत प्रतिभा में निखार आता है और न बाह्य जीवन की परिस्थितियों का बदलना-सुधारना संभव होता है। इसलिए अध्यात्म तत्त्वज्ञान की साधना के लिए कदम बढ़ाते हुए हमें साहस के अभिवर्धन का अभ्यास करना चाहिए।

शारीरिक और मानसिक क्षेत्र में सुधार के लिए साहस करने की भाँति पारिवारिक जीवन में उत्कृष्टता स्थापित करने के लिए भी प्रयत्नशील होना चाहिए। परिवार निर्माण में दूसरों को उपदेश करते रहना अथवा डाँट-डपट, क्लेश-कलह का सहारा लेना कभी-कभी ही कुछ कारगर सिद्ध होता है; अन्यथा उसकी उलटी प्रतिक्रिया अवज्ञा और असंतोष के रूप में ही प्रस्तुत होती है। अच्छा यही है कि परिवार में जहाँ दोष हों, वहाँ स्वयं जुटें और अपना आदर्श प्रस्तुत करते हुए दूसरों को अनुकरण की प्रत्यक्ष प्रेरणा दें।

आमतौर से घरों में अस्वच्छता और अव्यवस्था का अंधेर छाया रहता है। गड़बड़ी उत्पन्न करने वाले कोई भी क्यों न हों, सुधार, स्वच्छता और व्यवस्था की जिम्मेदारी हमें अपने कंधे पर लेनी चाहिए। इस कार्य को मनोरंजन की तरह करना चाहिए। सिनेमा, क्लब, ताश, तफरीह का यह सबसे अच्छा तरीका है कि घर की सर्वतोमुखी सफाई और व्यवस्था में कुछ समय निरंतर लगाया करें और जो सहानुभूति एवं प्रसन्नता प्रकट करें, उन्हें भी साथ लगा लिया करें। परिजनों को प्रत्यक्ष उपदेश या डाँट-डपट करने की अपेक्षा उनकी मनोभूमि अभीष्ट दिशा में विकसित करने के लिए नित्य प्रेरक और प्रकाशदायी कथा-कहानी की पद्धति घर में प्रचलित की जा सके तो उसका भारी लाभ दिखाई देगा। घरेलू समस्याओं पर सबकी सलाह लेने और उपयुक्त हल ढूँढ़ने में और सबको साथी बनाने से अनेक कमियाँ दूर हो सकती हैं। परिजनों के लिए खर्च की व्यवस्था जुटा देना ही गृहपति का एकमात्र कर्तव्य नहीं, वरन् परिवार को सुसंस्कृत एवं सुव्यवस्थित बनाना भी फर्ज है। झेंप और संकोच छोड़कर यह कार्य हाथ में लिया जा सके तो परिवार निर्माण की एक पहली आवश्यकता पूर्ण होने के साथ-साथ, अपने साहस की अभिवृद्धि का भी सहज सुयोग प्राप्त होता रह सकता है।

नव-निर्माण योजना के तीन स्तर हैं—(१) आत्म-निर्माण, (२) परिवार-निर्माण और (३) समाज-निर्माण। समाज-निर्माण के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आज का जन-मानस बहुत ही निकृष्ट स्तर पर पहुँच चुका है। लोग रोटी कमाने भर में चतुर हैं। बाकी हर क्षेत्र में इतनी मूर्खता प्रदर्शित कर रहे हैं, जितनी कोई सिरफिरे पागल ही कर सकते हैं। दृष्टिकोण बहुत ही ओछे हैं। दूरदर्शितापूर्वक व्यक्ति और समाज का हित-अनहित सूझता ही नहीं। केवल आज का, अभी का क्षणिक लाभ जिसमें दीखता है, उसे ही करने पर उतारू हो जाते हैं। सामाजिकता, तत्त्वज्ञान और सहयोग, संयम और सेवा की उपेक्षा दीखती है। जिन कुरीतियों और दुष्प्रवृत्तियों ने हमें सब प्रकार बरबाद कर डाला। उनके प्रति न कोई रोष है न संघर्ष। अनीति और कुरीति दोनों को ही सहते रहने की वैसी ही आदत पड़ गई है, जैसी बौद्धिक दृष्टि से पतित-पराधीन लोगों की होती है। इस वर्तमान स्थिति को भली प्रकार समझना होगा और यह निश्चय करना होगा कि लोगों की सलाह से नहीं, अपनी स्वतंत्र विवेक बुद्धि से ही निर्णय करेंगे। आज के लोग जिस स्तर के हैं उसी स्तर में पड़े रहने की वे सलाह दे सकते हैं और वैसा ही आग्रह कर सकते हैं। आपकी दृष्टि से वे बालक हों या वृद्ध—इससे कुछ अंतर नहीं आता, बौद्धिक स्तर लगभग सबका एक-सा है। उनके अनुभवों से व्यापार, लोकाचार आदि में तो सहायता मिल सकती है, पर महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक निष्कर्षों में उनकी सलाह दो कौड़ी से अधिक कीमत की नहीं। समाज निर्माण के लिए जिस विवेक-बुद्धि की, नीर-क्षीर विवेकी सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, वह लोगों से नहीं मिलेगी, उसे तो अपने भीतर से ही जाग्रत् करना पड़ेगा।

समाज निर्माण के लिए हमें साहसी ही नहीं, दुस्साहसी भी होना होगा। प्रचलित परंपराओं के बारे में यही मानकर चलना होगा कि उनमें से अधिकांश अविवेकपूर्ण और अनुपयुक्त हैं। उन्हें

सुधारने, बदलने और तोड़ने के बिना काम चल ही नहीं सकता। लोगों को मरना मंजूर है, पर बदलना मंजूर नहीं। ऐसी जड़ता में जकड़े हुए जनमानस के अनुकूल हम नहीं बन सकते, न उससे समझौता कर सकते हैं, न अनुगमन। विवेक को नहीं—अज्ञान को बदलना होगा। लोगों की सलाह पर हमें नहीं चलना है, वरन् अपनी रोशनी से लोगों का पथ-प्रदर्शन करना है। यह साहस अपने भीतर जगाना ही होगा कि लोग हमें बेवकूफ, सिरफिरा, सनकी कहें, गालियाँ दें, विरोध करें और रोड़े अटकाएँ तो भी चट्टान की तरह अपने निश्चय पर सुदृढ़ बने रहें।

रूढ़िवादिता, संकीर्णता और अंध-परंपरा का आज सर्वत्र बोलबाला है। उसी का अनुगमन करने लगें—उसी प्रवाह में बहने लगें—तो अपनी महानता और विशेषता क्या रही ? तब समाज निर्माण का, युग-निर्माण का आधार ही क्या रहेगा ? समाज निर्माण का कार्य ऐसे साहसी और दुस्साहसी व्यक्तियों के कंधों पर आता रहा है, जो अज्ञान ग्रसित भेड़ों की भीड़ से प्रभावित न होकर विवेक का ही अवलंबन स्वीकार करें, जो उचित हो उसी को स्वीकार करें, फिर चाहे सारी दुनिया ही अपना बेसुरा राग क्यों न अलापती रहे। हमें भी आज ऐसे ही साहस, दुस्साहस को अपनाने की आवश्यकता पड़ेगी।

❐ ❐

# दुर्बुद्धि की इस प्रतारणा को हम नहीं तो कौन रोकेगा ?

शरीर के हर अवयव और संसार के हर पदार्थ के सदुपयोग व दुरुपयोग के भले-बुरे परिणाम प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। दुरुपयोग सर्वत्र हेय एवं कष्टकारक हैं। जिह्वा इंद्रिय का चटोरापन अपनाकर और कामेंद्रिय का विषय-लिप्सा में व्यतिक्रम करने से स्वास्थ्य की जड़ें खोखली हो जाती हैं और रुग्णता का कष्ट भोगते हुए अकाल ही काल-कवलित होना पड़ता है। धन का दुरुपयोग कंगाली, उपहास और दुष्प्रवृत्तियों का कष्टप्रद प्रतिफल उत्पन्न करता है। पद का दुरुपयोग करने वाले उस स्थान से हटा दिये जाते हैं। कपड़ा, बर्तन, पुस्तक, वाहन, मशीन आदि जिसका भी दुरुपयोग होगा, उसे असमय ही नष्ट होना पड़ेगा। दुरुपयोग सर्वत्र निंदनीय एवं हानिकारक है। पर बुद्धि का दुरुपयोग तो सबसे अधिक भयानक है। मानवीय विशेषताएँ बुद्धि पर निर्भर हैं। बुद्धि ही सबसे बड़ा अस्त्र है। उसी को चमत्कार या वरदान कहना चाहिए। जीवन में सारी चमक, सारी प्रगति और सारी सुख-शांति बुद्धि की ही तो है। जिसके पास बुद्धि बल है वही बलवान् है। निर्बुद्धि तो सौ दुर्बलों का दुर्बल है। किंतु यदि इसी बुद्धि तत्त्व का दुरुपयोग होने लगे तो मनुष्य अपने लिए और समस्त समाज के लिए एक भयंकर अभिशाप बन जाता है।

प्राचीनकाल में सबसे अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाता था कि बुद्धि तत्त्व के सदुपयोग की परिपूर्ण व्यवस्था बनी रहे। धार्मिक दृष्टि से बालक के जन्मते ही बार-बार संस्कारित कराने का विधान था। परिवार का वातावरण ऐसा रहता था, जिसमें सोचने और सीखने के लिए केवल उपयुक्त आधार ही उपलब्ध हों। थोड़ा बड़ा होते ही १०-१२ वर्ष की आयु में प्रवेश करते ही बालक गुरुकुलों में भेज दिये जाते थे, जहाँ कुसंस्कारी वातावरण से दूर

परिष्कृत प्रवृत्तियों के बीच किशोर को पढ़ने-बढ़ने, सीखने-समझने और परिपक्व होने का अवसर मिलता था। किशोरवय सबसे अधिक संवेदनशील आयु है। उसमें शरीर और मन निरंतर उफनता रहता है। सूखी घास को जैसे आग सहज ही पकड़ लेती है वैसे ही अवांछनीय वातावरण में फैली हुई दुष्प्रवृत्तियाँ किशोर बालकों को सहज ही प्रभावित कर लेती हैं और उन्हें कुमार्गगामी बनते देर नहीं लगती। इस आशंका से बचने के लिए बालकों का विकास एवं शिक्षण ऋषियों के संरक्षण में चलने वाले गुरुकुलों में ही होता था। स्वाध्याय और सहयोग की, कथा-प्रवचनों की प्रवृत्तियाँ किशोर बुद्धि को सन्मार्गगामी बनाये रहने के लिए निरंतर सक्रिय बनी रहती थीं। तभी यह संभव था कि भारतवर्ष का बौद्धिक एवं चारित्रिक स्तर देवमय बना रहा और स्पष्ट है कि जहाँ सद्बुद्धि का प्रकाश होगा, वहाँ न सुख-शांति की कमी रहेगी, न संपत्ति और सफलता की। इस तथ्य का अनुभव भारतीय समाज शताब्दियों तक करता रहा है और अपनी इस विशेषता से समस्त संसार को प्रभावित करता रहा।

पिछली शताब्दी से बुद्धिवाद ने एक नई करवट ली। तर्क और प्रत्यक्षवाद ने श्रद्धा का भावना भरा क्षेत्र छीन लिया। तर्क और प्रत्यक्षवाद की सीमा भौतिकता के क्षेत्र में सीमित है। इस सीमा में सद्भावनाओं का नहीं स्वार्थ का समर्थन होता है। तर्क और प्रत्यक्षवाद की गति ईश्वर और आत्मा तक भी नहीं पहुँच पाती। अतएव बुद्धिवाद ने धर्म और अध्यात्म की सत्ता स्वीकार करने से पहले चुपके-चुपके—पीछे जोर से और अकड़कर, इनकार कर दिया। फिर परमार्थ की बात का भी समर्थन कैसे हो ? स्वच्छंदता की दिशा में बदला हुआ बुद्धिवाद हमें वहाँ ले पहुँचा, जहाँ उत्कृष्टता की आस्था अनुपयोगी और अनावश्यक बनकर रह जाती है। भौतिकवाद, बुद्धिवाद घुमा-फिराकर संकीर्ण स्वार्थों का ही समर्थन करता है। भौतिकवाद में खाओ-पीओ मजा

उड़ाओ, की पशु-प्रवृत्तियों को ही सार्थक बताया है। जब कर्मफल और परलोक जैसी मान्यताओं को अप्रमाणित कर दिया गया, आत्मा का अस्तित्व ही न रहा, तो फिर स्वच्छंद आचरण से क्या हानि ? कानूनी पकड़ से बचते हुए अनाचार करने की छूट ने मनुष्य को अनास्थावान्-अनाचारी बनाकर रख दिया। आज का औसत मनुष्य इसी स्तर का है। इस गये-गुजरे स्तर की मान्यताएँ अपना बैठने वाला मनुष्य कोई ऊँची बात नहीं सोच सकता। ऊँचे काम नहीं कर सकता। मान्यताएँ बदलने पर क्रियाकलाप बदलना स्वाभाविक है। जैसा सोचा जाएगा वैसा किया भी जाएगा। आधुनिक बुद्धिवाद की तथाकथित प्रगति ने न केवल अनास्था का दृष्टिकोण दिया, वरन् अनैतिक आचरण की भी छूट दे दी। सो आज पतनोन्मुख प्रकृति का नर-पशु आदर्शों के समस्त बंधनों को तोड़ता हुआ, उच्छृंखल विवर्तनों को अपनाता हुआ वैयक्तिक एवं सामूहिक जीवन में घोर अशांति उत्पन्न करने की दुःखद भूमिका बनाने में संलग्न है।

इन परिस्थितियों में जो कुछ हो रहा है, जो गुजर रहा है—पशु-पक्षियों के अंडे-बच्चे, रक्त-मांस चट कर जाने का व्यापक समर्थन किया गया, उससे क्रूरता को खुला खेल खेलने का अवसर मिला। दूसरों की असह्य पीड़ा को अपने तनिक से जिह्वा के स्वाद अथवा बलवृद्धि की मृग-तृष्णा के लोभ से नगण्य समझा गया। बिलखते और चीत्कार करते निरीह प्राणी का आर्तनाद अपनी मेज पर जायकेदार प्लेट से टकराकर जब वापस लौटा, तो साथ ही मनुष्य के अंतरंग में रहने वाली करुणा को भी समेटता, घसीटता ले गया। निर्दयता एक प्रवृत्ति है, जो अन्य प्रवृत्तियों की तरह बढ़ती है। आहार के सहारे वह बढ़ी और अपना क्षेत्र बढ़ाते हुए उसने मनुष्य को भी लपेट में ले लिया। पशु-पक्षी खाये जा सकते हैं, तो मनुष्य क्यों नहीं खाये जा सकते ? अन्य जीवों को सताने में अपना कुछ नहीं बिगड़ता, तो मनुष्यों को सताने, रुलाने में झिझक क्यों

की जाए ? मनुष्य भी तो आखिर एक प्राणी ही है। उसके साथ भिन्न ढंग से सोचने की क्या आवश्यकता ?

बुद्धि आखिर बुद्धि ही है, उसे जो दिशा दी जाएगी उसी पर तो चलेगी ? स्नेह और सौजन्य, करुणा और दया-आत्मीयता और सहृदयता के लिए स्थान कहाँ बचा ? मनुष्य, मनुष्य के बीच सज्जनता और सद्भावना जिन आधारों पर टिकी हुई थी, उनकी जड़ें खोदी जाने लगी तो आखिर वे गिरेंगे ही और साथ ही मानव समाज के सौम्य-सद्भाव भी नष्ट होंगे। आज निर्दयता व निष्ठुरता का वातावरण बढ़ रहा है, लोग एक-दूसरे का रक्त, मांस खाने के अभ्यस्त अभी नहीं हो पाये हैं, पर अनीति और अनाचार में किसी को सताने में जो झिझक होती है, उसे बहुत अंशों तक त्याग दिया है। बुद्धिवाद कहता है कि सहृदयता के आधार पर जो थोड़ी-बहुत लोक-लाज बची है, उसे भी उतार फेंका जाए और भौतिकवाद का व अप्रत्यक्षवाद का पूरी तरह अनुकरण किया जाए।

आत्मा, ईश्वर और कर्मफल से इनकार करके आज के विज्ञान समर्थित बुद्धिवाद ने हमें उन सभी अनाचारों को अपनाने की छूट दे दी है, जो अपने स्वार्थ-साधन के लिए आवश्यक हों। एक तो वैसे ही मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभावतः पाप और पतन की ओर थी। भीतर बैठा हुआ असुर वैसे ही कुमार्गगामी बनता रहता था, पर अब तो विज्ञान और बुद्धिवाद ने भी उसी का समर्थन शुरू कर दिया—तब तो अनाचार को खुली छूट मिल गई। शैतान के हाथ में लगी बाइबिल की तरह कभी-कभी हम धर्मात्मा और ईश्वर भक्त होने का आडंबर भी बना लेते हैं, ताकि दूसरों की आँखों में धूल झोंकना और भले लोगों की दृष्टि में अपने को सज्जन सिद्ध करने का लाभ उठाया जा सके, पर भीतर ही भीतर काम एक ही विचार कर रहा है। नास्तिकों जैसे ही आचरण आस्तिकों के हैं। फिर अंतर किस बात का ? प्रजातंत्र में कानून की पकड़ बहुत ढीली है, उसे

पैसे तथा चतुरता के बल पर इतना नरम बनाया जा सकता है कि निरंतर भयानक अपराध करते रहने पर भी शिकंजे में फँसने से बचा सके। लोक निंदा का क्या मूल्य रहा ? जब भीतर ही भीतर सब चोर हैं, तब निंदा-प्रशंसा भी एक लोकाचार मात्र रह जाता है, कौन करे उसकी परवाह ?

तथाकथित आधुनिक बुद्धिवाद ने मानवीय आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता को निरर्थक घोषित किया है और नीति, सदाचार, सामूहिकता, नागरिकता, सज्जनता आदि उत्कृष्टताओं को एक कहने-सुनने भर की वाक् विलास एवं कहने-लिखने की विडंबना भर बनाकर छोड़ दिया है। व्यक्ति इसी प्रभाव से प्रभावित होता और इसी रंग में रंगता चला गया है। फलस्वरूप उसकी स्थिति विचित्र हो गई है। विलासिता और भोगवाद, तृष्णा और धन, अहंकार और प्रदर्शन, स्वार्थ और संग्रह इतनी-सी छोटी परिधि में उसकी सारी आकांक्षाएँ भ्रमण करती रहती हैं। जो सोचता और करता है, उसका आधार इतना मात्र ही होता है।

इन परिस्थितियों में दुष्प्रवृत्तियों का संसार में बढ़ते चलना स्वाभाविक है। प्रकृति पर कभी इतना काबू नहीं पाया जा सकता कि दुष्प्रवृत्तियाँ तो बढ़ती रहें, पर उनके साथ रोग, शोक, कष्ट, संताप, कलह, विग्रह, अपराध, अनाचार, उत्पीड़न, चीत्कार न बढ़ें। प्रकृति अपना धर्म छोड़ने से रुकी नहीं है। क्रिया की प्रतिक्रिया न हो ऐसा भी अभी कोई तर्क या विज्ञान नहीं निकला है। अतएव दुष्प्रवृत्तियों के साथ-साथ आंतरिक क्षोभ, बाह्य-विद्वेष, आक्रमण, अवरोध, हिंसा-प्रतिहिंसा क्षोभ असंतोष का कुचक्र भी चल रहा है। समाज व्यवस्था में इतनी विकृतियाँ आ गई हैं कि न तो व्यक्ति समूह के लिए उपयोगी रहा और न समूह की घुटन व्यक्ति को संतोष की साँस लेने दे रही है।

अगले दिन और भी भयानक आ रहे हैं। बुद्धि का सन्मार्गगामी होना जहाँ सुख, संपत्ति और प्रगति की संभावनाएँ बढ़ा

सकता है, उसका कुमार्गगामी होना विपत्तियों के घटाटोप भी प्रस्तुत कर सकता है। स्वास्थ्य, संतोष, सद्भाव, सज्जनता, प्रेम, विश्वास, अर्थ-संतुलन, एक-एक करके विदा होते चले जा रहे हैं। चिंता, भय, आशंका, निराशा, विक्षोभ, उद्वेग, घृणा और ईर्ष्या की आग से अंतःकरण सदा जलते रहते हैं। तनाव और अशांति हर घड़ी चित्त को बेचैन किये रहती है। मित्र कहीं दीखते नहीं, चारों ओर शत्रु ही घिरे लगते हैं। न कामनाएँ पूरी होती हैं, न तृष्णाएँ, न वासनाएँ, हर घड़ी असंतोष और खीज के कारण जीवन जलता हुआ दीखता है। रह-रहकर आत्महत्या के विचार उठते हैं।

यह व्यक्ति की निजी आंतरिक स्थिति हुई। समूहगत परिस्थिति और भी भयावह है। मँहगाई, बेकारी, चोरी, ठगी, बीमारी, जालसाजी की प्रबलता जीवन दुर्लभ किये दे रही है। कहीं सहानुभूति नहीं, कहीं सहयोग नहीं। जिधर जाइए उधर ही शोषण का जाल बिछा मिलेगा। बाजार जाइए नकली, मिलावटी, बेकार चीजें, कम मोल में, कम नाप में अधिक मूल्य देकर खरीद लाइए और घर आकर रोइए, पछताइए। किसी भी क्षेत्र में चले जाइए। धर्म-अध्यात्म, समाज-सेवा, सरकार-दरबार, व्यवसाय, मजदूर-मालिक हर क्षेत्र में उस तरह का व्यवहार मिलेगा, जिससे सिर पर हाथ रखकर दुर्भाग्य के लिए पछताना पड़ेगा और कहना पड़ेगा, हाय रे भगवान् ! किस उद्देश्य के लिए, किस जगह बैठे लोग, क्या-क्या अनर्थ कर रहे हैं ?

इस वातावरण में न व्यक्ति सुखी रह सकता है न समाज का ढाँचा स्थिर खड़ा रह सकता है। बाहर का आवरण भर किसी प्रकार खड़ा है, भीतर तो सर्वत्र पोल ही पोल है। खोखले मन के भीतर जो सर्वनाशी दुष्प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे चुपके-चुपके पनप रही हैं, वे आगाह करती हैं कि खतरे की घड़ी आ पहुँची। किसी भी समय यह सारा ढाँचा चरमराकर बैठ जाएगा और फिर उसे सँभालने-उठाने की गुंजाइश न रहेगी। आज जो परिस्थितियाँ बन

गई हैं, उनसे कोई संतुष्ट नहीं। तनातनी, क्षोभ और असंतोष की प्रवृत्ति व्यक्ति से लेकर अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति तक अपनी चरम सीमा पर पहुँचती जा रही है। विक्षोभ मानो फूटा ही पड़ता है। अनीति की सभी शिकायत करते हैं। सभी उससे संत्रस्त हैं और सभी उसे अपने क्षेत्र में अपनाये भी हुए हैं। कैसी है यह विचित्र विडंबना ?

प्रश्न यह है कि क्या उन परिस्थितियों को ज्यों का त्यों बना रहने दिया जाए ? उन्हें यथाक्रम बढ़ने दिया जाए ? न चाहते हुए भी यह अधिकाधिक प्रबल और उग्र नहीं होती चली जाएँगी, यदि अपने मतलब से मतलब रखकर प्रबुद्ध वर्ग ने आँखें मीच लीं और सोच लिया कि हमें क्या पड़ी, हमारा अकेला कहीं नुकसान थोड़े ही है, जो हम प्रतिरोध के लिए आगे बढ़ें।

समझदारी और जिम्मेदारी सदा से अनुपयुक्त को सँभालने और विभीषिकाओं को रोकने के लिए आगे बढ़ने की, सामना करने की प्रेरणा देती रही है। आज भी यही बात है कि जिनके अंतःकरण अपने में अधिक दूरदर्शिता, सहृदयता, विवेकशीलता, जिम्मेदारी और समर्थता अनुभव करते हों उन्हें अंतःप्रेरणा भी कचोटेगी और मानवता की पुकार भी विवश करेगी कि वासना और तृष्णा के लिए मरते-खपते रहने तक सीमित न रहकर कुछ अधिक आगे बढ़ा जाए और विश्व की बिगड़ती हुई परिस्थितियों को सँभालने के लिए कुछ शौर्य, साहस एवं त्याग-बलिदान का परिचय दिया जाए।

स्पष्ट है कि दुर्बुद्धि का यह सारा खेल है जिसने चिर अतीत से चली आ रही स्वर्गीय परिस्थितियों को नरक में बदल दिया और देवत्व का वरण करने वाले मनुष्य को नर-पशु और नर-पिशाच के रूप में परिवर्तित कर दिया। अगणित समस्याएँ विभीषिकाओं को जन्म दे रही है, सुख-शांति की परंपरा को, वही सर्वनाश की परिस्थितियों में परिणत कर रही है। सारा दोष इस दुर्बुद्धि का है,

जिसने व्यक्तिगत जीवन में अनाचार का और सामूहिक जीवन में भ्रष्टाचार का प्रचलन अति भयावह वेग के साथ उपस्थित किया है। मूढ़-मान्यताएँ, अंध-विश्वास, कुरीतियाँ, दुष्प्रवृत्तियाँ और प्रवंचनाएँ जिस माँ की सहोदर बेटियाँ हैं, उसका नाम है दुर्बुद्धि। विकृत विचारणा ने उलटा सोचने के लिए, त्याज्य को चाहने के लिए, अनाचार को अपनाने के लिए उकसाया और सारी स्वस्थ परंपराएँ उलटी हो गईं।

इस क्रम को यथावत् चलने दिया गया तो कठिनाइयाँ और अधिक बढ़ेंगी। कुछ ही दिन में यह संसार दुःख-दरिद्र के दावानल में जलने लगेगा और क्रोध, कलह एवं स्वार्थ-संघर्ष की उत्तेजना उसे सर्वग्राही विनाश के गर्त में धकेल देगी। यदि यही अभीष्ट हो तो सबको आज की तरह आगे भी हाथ-पर हाथ रखे बैठे रहना चाहिए। अन्यथा इस विपत्ति को टालने के लिए कुछ करना चाहिए। प्रबुद्ध व्यक्तियों का, जाग्रत् आत्माओं का इस दृष्टि से उत्तरदायित्व अधिक है। वे यदि चाहें तो इस दावानल को बुझाने में बादलों की भूमिका प्रस्तुत कर सकते हैं। युग-निर्माण योजना अपने प्रिय-परिजनों को इसी भूमिका का संपादन करने के लिए आह्वान करती रही है। अब इस आह्वान के स्वर को अधिक तीव्र किया जा रहा है, क्योंकि स्थिति दिन-दिन अधिक तेजी से बिगड़ती जा रही है और विलंब होते जाने पर वह स्थिति आ सकती है कि सँभालना ही संभव न रहे।

अस्तु आज ही वह दिन है जबकि हमें अपने कर्तव्य के बारे में निर्धारण करना चाहिए और यदि अंतःकरण में कर्तव्य बुद्धि जगती हो तो उसे क्रियान्वित करने के लिए साहसपूर्वक आगे आना चाहिए।

आपत्ति काल में हर जिम्मेदार व्यक्ति को आपत्ति धर्म का पालन करना पड़ता है। पड़ौस में आग लगी हो, कोई दुर्घटना घटी हो तो अपना सामान्य दैनिक क्रम हर्ज करके भी उसे निवारण

करने एवं आपत्तिग्रस्तों की सहायता करने में लगना पड़ता है। यह आपत्ति धर्म सबसे बड़ा धर्म है। आज विश्वव्यापी आपत्ति की घड़ी है। इसके निवारण-समाधान में जो विवेकवान् होते हुए भी सहयोग नहीं देते, उन्हें धर्म-कर्तव्य का हनन करने का दोष लगेगा। जिनकी अंतरात्मा कहती है कि इस विषम घड़ियों में हमें भी कुछ करना चाहिए, फिर भी लोभ, मोह और कायरता के वशीभूत होकर एक कदम आगे बढ़ नहीं पाते, ऐसों को अंतरंग में बैठे हुए परमेश्वर की वाणी का तिरस्कार करने वाला आत्मघाती ही कहा जाएगा। अच्छा हो हेय अपराधों से अपना युग-निर्माण परिवार का प्रबुद्ध वर्ग बचा रहे। जब आपत्तिकाल में कर्तव्यघाती बने बैठे लोगों की काली तालिका इतिहासकार लिखें, तब अच्छा यही हो कि उसमें अपने परिवार के किसी परिजन का नाम दिखाई न पड़े।

रोटी कोई बड़ी समस्या नहीं है, जिसके लिए पूरा जीवन ही समर्पित कर दिया जाए। शरीरचर्या की, परिवार पोषण की जिम्मेदारियाँ भी उठानी चाहिए, पर उनमें इतना नहीं उलझा जाना चाहिए कि आत्मा की पुकार और विश्व मानवता के आह्वान को सुनने जितनी फुरसत भी न मिले। अपनी विभूतियों का सारा अंश स्वार्थ-संकीर्णता के एक छोटे दायरे में ही खर्च कर डालना कोई बुद्धिमानी नहीं। उचित यही है कि उसमें से एक अंश हमें लोक निर्माण—पीड़ित मानवता के परित्राण के लिए भी लगाएँ।

❐ ❐

# प्रतिभाएँ कुमार्गगामी न होने दी जाएँ

सामान्य स्तर का मनुष्य अपनी उलटी या सीधी विचारणा से केवल अपने को ही प्रभावित करता है। बहुत हुआ तो वह सीमा आश्रित परिवार तक बढ़ जाती है। किंतु जिन लोगों में विशेष क्षमता है, जिनके पास विशेष शक्ति, प्रतिभा अथवा किसी प्रकार की सत्ता है; वे अपनी भली-बुरी विचारणा का प्रभाव बहुत व्यापक क्षेत्र पर छोड़ते हैं। इसलिए उनकी जिम्मेदारी भी बहुत है। विद्वान्, कलाकार, धनवान्, धर्मनेता, राजनेता स्तर के मनुष्यों में जो क्षमता एवं प्रतिभा भरी रहती है, वह सही दिशा में प्रवाहित होने पर जहाँ लोक कल्याण की महती संभावना साकार कर सकती है, वहाँ उनकी सनक अथवा दुर्बुद्धि से महान् अहित एवं महा नाश की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि इस नेतृत्व में विकृतियाँ तो उत्पन्न नहीं हो रही हैं। यदि हो रही हों, तो महामारी एवं शत्रु आक्रमण के समय जैसी तत्परता बरती जाती है, उसी स्तर से इस अग्रगामी वर्ग के संबंध में सोचा और किया जाना चाहिए।

ऋग्वेद में प्रार्थना की है कि—'हे भगवान् ! हमें देवताओं के पापों से बचा।', सामान्य व्यक्तियों के पाप एक व्यक्ति या परिवार को प्रभावित करते हैं, पर देवताओं के, प्रतिभाशाली और समर्थ व्यक्तियों के पाप व्यापक प्रभाव डालते हैं और उनकी दुर्बुद्धि एवं दुष्टता का फल सारे समाज को भोगना पड़ता है। इसी प्रकार इन समर्थ लोगों की सद्बुद्धि एवं सत्प्रवृत्ति उन्हें स्वयं ही सम्मानित नहीं करती, वरन् व्यापक क्षेत्र में सुख-शांति की परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। अतएव जहाँ व्यक्तिगत जीवन में उत्कृष्टता उत्पन्न करने वाली विचार-प्रक्रिया को अपनाया जाना चाहिए, वहाँ हजार गुनी सतर्कता के साथ यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रतिभाएँ अनीति की ओर, अवांछनीयता की ओर उन्मुख तो नहीं हो रही हैं।

कला केवल मनोरंजन ही नहीं, वरन् लोक-मानस को अत्यधिक प्रभावित करने वाली इकाई है। कलाकार लोक-मानस का निर्माण करते हैं। अपने समय को भला-बुरा, उन्नत-अवनत बनाने में कलाकारों का बड़ा योगदान रहा है। गायक, अभिनेता, चित्रकार, कवि, साहित्यकार, पत्रकार आदि कलाकारिता के क्षेत्र हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लोक रुचि का निर्माण इन्हीं की कृतियों द्वारा होता है। आज जनमानस की दयनीय दुर्दशा में कहीं इन प्रतिभाओं का तो दोष नहीं है। यदि हैं तो उसे सतर्कतापूर्वक सँभाला, सुधारा और रोका जाना चाहिए।

आज सिनेमा और टेलीविजन ने लोक रंजन के प्रधान माध्यम जैसी स्थिति प्राप्त कर ली है। अन्य मनोरंजन तो एक प्रकार से समाप्त ही हो चले। गरीब, अमीर, देहाती, शहरी, पढ़े, बिना पढ़े सभी उस मनोरंजन का लाभ लेते हैं। देखा जाना चाहिए कि उस माध्यम से कथाकार, अभिनेता, गायक, निर्माता कहीं लोक रुचि को विकृत तो नहीं कर रहे हैं ?

इस दृष्टि से आज की स्थिति अच्छी नहीं है। मध्य कालीन सामंतवादी युग कामुकता और शृंगार की दुष्प्रवृत्तियों को उद्दीप्त कर मनुष्य की पशु-प्रवृत्ति भड़काने के लिए बदनाम था। पर अब तो वह चंद अमीरों और सत्ताधारी लोगों तक सीमित न रहकर जन-साधारण तक फैलाई जा रही है। फिल्मों में और जो कुछ भी बताया-दिखाया जाता है, कामुकता भड़काने वाले अंश उनमें अनिवार्य रूप से जुड़े होंगे। इससे बाल-वृद्ध, नर-नारी सभी प्रभावित होते हैं और वासना तथा विद्रूपता के शिकार होते हैं। उससे शारीरिक और मानसिक व्यभिचार की लहर उमड़ती है। इस असंयम का परिणाम शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक-संतुलन, नर-नारी के बीच शालीनता की दृष्टि, पारिवारिक निष्ठा, लोक मर्यादा आदि सभी पर अत्यंत ही विघातक पड़ता है। कामुकता का उद्दीपन वस्तुतः नारी की उत्कृष्टता का वीभत्स तिरस्कार है। एकांत मिलन के गुह्य कक्ष में जो हाव-भाव, संभाषण, गायन, अभिनय, क्रिया-

कलाप पति-पत्नी तक सीमित रखे जाने चाहिए और उसमें भी प्रजनन की आवश्यकता पर ही वह उद्दीपन होना चाहिए, खेद है कि वह गुप्त प्रकरण चौराहे पर दिखाये और सुनाये जाने का विषय बन गया है। जो प्रसंग संवाद अपनी संस्कृति में गुह्य माने गये हैं और जिन्हें छोटे-बड़े साथ बैठकर शालीनतापूर्वक नहीं देख सकते, अब वे निर्लज्ज अभिव्यंजन के लिए खुले छोड़ दिये हैं। बाप-बेटी, बहिन-भाई साथ-साथ उन्हें देखते हुए संकोच नहीं करते। यह संकोच-व्यतिरेक न जाने पारिवारिक परिजनों के रिश्ते को भी जीवित रहने देगा कि नहीं। मर्यादाएँ टूटीं फिर पशुओं में बाप-बेटी, भाई-बहिन, माँ-बेटे के बीच प्रजनन का कोई बंधन नहीं। मनुष्य ने शालीनता और मर्यादा की पवित्रता पर प्रतिबंध अपने ऊपर लागू करके पशुओं से ऊँची समाज-मर्यादा बनाई है। यदि उसे इस तरह तोड़ा जाता रहा, जैसा कि आज का सिनेमा तोड़ रहा है तो अगले दिनों उन मर्यादाओं का कुछ अस्तित्व बचा रहेगा या नहीं यह कहना कठिन है।

तस्वीर बनाने वाले, छापने वाले, बेचने वालों ने तो हद ही कर दी है। आप किसी तस्वीर बेचने वाले दुकानदार, छापने वाले प्रेस अथवा तस्वीर बनाने वाले चित्रकार के पास जाकर खड़े हो जाइए, वहाँ नारी का अधनंगा एवं उत्तेजक चित्रण ही उभारा जा रहा होगा। युवा नारी की उत्तेजक भाव-भंगिमा तथा यौवन अंगों का उभार देखना और दिखाना यहाँ सदा से ही अवांछनीय समझा जाता रहा है। इससे नारी के माता, भगिनी और बेटी वाले पवित्र स्तर पर आँच आती है और उसे कामिनी, रमणी की दुराचार दृष्टि से देखने को प्रोत्साहन मिलता है। यह नारी के महान् गौरव को प्रत्यक्षतः पददलित करना है। कोई समाज या व्यक्ति नारी के प्रति पूज्य और पवित्र भाव से नीचे उतरकर उसे कामुकता की दृष्टि से देखने का अभ्यस्त बन जाए तो निस्संदेह वह अपनी महानता खो बैठेगा। इस तथ्य को भली-भाँति समझने के कारण ही भारतीय संस्कृति में उस प्रकार की कुदृष्टि को एक गर्हित पाप माना है।

खेद है कि आज की कला—फिल्म, अभिनय, संगीत, चित्रकला आदि के माध्यम से उन सारी मर्यादाओं को चकनाचूर करके रख देने पर तुली हुई है। पान वाले की दुकान पर सारे दिन बजने वाला रेडियो दिन भर यही संवाद अलापता रहता है। यह क्रमबद्ध कामुक उद्दीपन अपनी शालीनता को देर तक जीवित रहने देने वाला नहीं है। शृंगार—शृंगार—शृंगार केवल एक ही रस अबाध गायन के लिए शेष रह गया है। धार्मिकता के मंच पर भी राधा-कृष्ण आदि के नाम पर वही शृंगार विराजमान है। मानो कला की समग्र सत्ता इस एक ही केंद्र पर केंद्रित हो गई हो। दूसरा कोई रस किसी कलाकार के लिए शेष ही न रहा हो। इसे मानव जाति का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि जो कला आंतरिक महानता के विविध पक्षों को अग्रगामी बनने में अपनी सार्थकता समझती रही, अब वह व्यक्ति को कामुक, कुदृष्टिदर्शी, कुमार्गगामी, कुछ भी बनाने के लिए पूरे वेग के साथ उतर आई है। नारी की अधिकाधिक नग्नता, गुह्य उपक्रम देखने के लिए उच्छृंखलता मचल रही है। नाइट क्लबों में पर्दे के भीतर सर्वत्र ऐसा मनोरंजन सर्वसुलभ है। संयोग की घिनौनी तस्वीर वाली किताबें लुक-छिपकर करोड़ों की संख्या में हर साल बिकती हैं। पत्रिकाएँ अर्धनग्न नारी चित्रण के आधार पर अपनी बिक्री बढ़ा रही हैं। ऐसे प्रकाशन पर रोक लगाने वाले कानूनों की अब ऐसी व्याख्या ढूँढ़ ली गई हैं, जिससे उपरोक्त प्रकार का प्रकाशन करने वाले अपराधी सहज ही राजदंड से बच जाते हैं। अगले दिनों क्या होने वाला है, ईश्वर ही जानता है। प्रवाह की तीव्रता इसी क्रम से चलती गई तो निर्लज्ज नग्नता एवं गुह्य अंतराल को सार्वजनिक करने के लिए खुली छूट मिल जाएगी और नर-नारी के बीच बना हुआ पवित्रता का पुल तोड़कर हिप्पी सभ्यता विकसित होगी और मानसिक एवं शारीरिक व्यभिचार ही मानवी मनोरंजन का प्रधान माध्यम बन जाएगा।

कला की पतनोन्मुख प्रवृत्ति रोकी जानी चाहिए। कवि और साहित्यकार केवल कामुक प्रसंग पर ही अपनी अभिवृत्तियाँ व्यक्त

करें—प्रकाशक केवल वही छापें—विक्रेता केवल वही बेचें—यह बुरी बात है। आज लेखन तंत्र और मुद्रण तंत्र की ८० प्रतिशत शक्तियाँ इसी दिशा में नियोजित हैं। इसे सार्वजनिक दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। लंबी अवधि से मूढ़ता, अनास्था, भ्रांति, निकृष्टता, संकीर्णता की कीचड़ में आकंठ फँसे हुए व्यक्तियों और समाज को उबारने के लिए जिन दिनों कला का सारा प्रयत्न जुट जाना चाहिए था, इन दिनों हमारे कलाकार भी अर्जुन व्यामोह से दिक्भ्रांत हो गये हैं।

मनोरंजन के हजार पक्ष हैं, इनमें से ९९९ को छोड़कर एकमात्र अश्लील कामुकता को ही प्रश्रय मिले। गायक की कंठ मधुरिमा वही गाये, वादक वही बजाये, अभिनेता वही दिखाये, निर्माता वही बनाये, तूलिका वही रंगे, मुद्रण यंत्र वही छापे, कलम वही लिखे—यह अनुचित है। कला के लिए बहुत काम बाकी पड़ा है। मानव को पतनोन्मुख स्थिति से उबारने के लिए उसे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करनी है। यदि उसने अपने महान् पक्ष से विचलित होकर लोक-मानस को कामुकता के नरक में डुबो देने की बात ठानी है, तो फिर हमारे भाग्य और भविष्य का ईश्वर ही रक्षक है।

जो हो रहा है उसे खुली छूट नहीं मिलनी चाहिए। लोकमत को नर-संहार से भी भयंकर स्तर का संहार के प्रवाह को रोकने के लिए उभारना चाहिए। ऐसी कला की हर जगह भर्त्सना की जानी चाहिए और उन भौंडी वृत्तियों को सर्वत्र धिक्कारा जाना चाहिए। मनुष्य के भीतर बैठी हुई कुत्सा को भड़काने और उस दुरभिसंधि के आधार पर अपनी जेबें भर लेने वाले—भले ही कलाकार कहलाते हैं—मानवी आदर्शों के कटघरे में खड़े किये जाने चाहिए। प्रशंसा, प्रोत्साहन और सहयोग ने इस गंदी कलाकारिता को बढ़ावा दिया है। भर्त्सना एवं असहयोग के आधार पर उसे रोका और सुधारा भी जा सकता है। अच्छा होता कलाकार अपनी मूर्धन्य जिम्मेदारी को अनुभव करते और पतनोन्मुख समाज को और अधिक गहरा धकेलने की अपेक्षा ऊँचा उठाने में अपनी प्रतिभा प्रयुक्त करते, पर यदि वे सस्ते लालच को नहीं छोड़ सकते, तो

रास्ता यही है कि लोकमत उनके अवांछनीय कर्तव्य को धिक्कारे और रोके।

नव-निर्माण के लिए इतना ही काफी न होगा। हमें तुलनात्मक स्तर पर कला को उत्कृष्ट रूप से जनता के सामने प्रस्तुत करना होगा, ताकि दोनों के अंतर और प्रतिफल को देख-समझ सकना और उनमें से एक को चुनना सार्वजनिक विवेक के लिए संभव हो सके। आवश्यकता ऐसे मधुर कंठों की है, जो केवल उत्कृष्टता उभारने वाले स्वर अलापें—आवश्यकता ऐसे वादकों की है, जो आदर्शों को उभारने वाली ध्वनि ही बजाएँ—आवश्यकता ऐसे अभिनेताओं की है, जो केवल शालीनता ही दर्शाएँ—आवश्यकता ऐसे कवियों की है, जो केवल मानवीय महानता को ही उभारें—आवश्यकता ऐसे लेखकों की है, जो केवल लोक-मंगल के लिए ही कलम उठाएँ—आवश्यकता ऐसे चित्रकारों की है, जो केवल देवत्व, करुणा और सद्भावना उभारने के लिए ही तूलिका को रंग में डुबोएँ। कला को दिशा देने वाले उत्कृष्ट व्यक्तित्व आगे आएँ तो कला की वर्तमान पतनोन्मुख प्रवृत्तियों की तुलना करने के लिए एक दूसरी चीज सामने आये और उसमें से क्या पसंद किये जाने योग्य है, इसे लोक-मानस परखे। अभी तो एक ही दिशा, एक ही प्रवाह, एक ही स्वर है, तो बेचारे लोक-मानस को उसी प्रवाह में बहने के लिए विवश होना पड़ेगा।

कला को उबारने के लिए अर्थ तंत्र गठित किये जाने चाहिए। धनी-मानी लोग व्यावसायिक दृष्टि से भी कला को आदर्शों की ओर मोड़ने के लिए आगे आएँ, तो आज नहीं कल उन्हें सफलता और प्रशंसा मिलेगी। फिल्म उद्योग, चित्र प्रकाशन, साहित्य उद्गम, अभिनय तंत्र, ग्रामोफोन रिकार्ड आदि कितने ही क्षेत्र ऐसे हैं, जो यदि धनी व्यवसायियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकें तो उनकी पूँजी धन्य बनाने के अतिरिक्त लोक-मानस को उबारने का ऐतिहासिक सम्मान भी प्राप्त कर सकते हैं। नवयुग निर्माण की प्रचंड लहरें जिस तेजी से हिलोरें ले रहीं हैं, उसे देखते हुए ऐसे

व्यवसायी अगले दिनों आर्थिक दृष्टि से भी लाभ में रहेंगे। आज वैसा साहस करना किसी को अरुचिकर भले ही लगे, पर जो समय की गति को बारीकी से देख सकते हों, उन्हें समझ लेना चाहिए कि कला के साथ व्यभिचार करने वाले वर्तमान तथाकथित कलाकार आज भले ही फूले फिरते हों, कल बुरी तरह धिक्कारे जाएँगे और आज जिन आदर्शवादी कदमों का उठाना घाटे में पड़ने जैसा लगता है कल उसे ही हर दृष्टि से, हर क्षेत्र में भरपूर प्रोत्साहन एवं लाभ मिलेगा। यदि व्यक्ति इस क्षेत्र में आगे न बढ़ें तो उचित है कि हम छोटे लोग मिलकर सहयोगी समिति गठित करें और सार्वजनिक अर्थ तंत्र खड़े कर कला को उत्कृष्टता के साथ जोड़ने वाले प्रयत्न आरंभ करें। युग की यह अति तीव्र और प्रखर आवश्यकता है। धनी व्यवसायियों द्वारा कम लाभ मिलने की आशंका से यदि कदम नहीं बढ़ाया जाता है तो हममें से कुशाग्र बुद्धि एवं प्रभावशाली प्रतिभाओं को आगे आना चाहिए और इस प्रकार के अर्थ तंत्र खड़े करने चाहिए, जो आततायियों द्वारा कला की सरस्वती को नारकीय विडंबना में सड़ने से उबारने वाले क्रियाकलाप गठित करने में समर्थ हो सकें। सुरुचिपूर्ण कला नव-निर्माण की एक महती आवश्यकता है। कला की आत्मा आज अपने इसी परित्राण के लिए करुणापूर्ण स्वरों में गुहार लगाये हुए है, अच्छा होता वे प्रतिभाएँ इस परित्राण के लिए आगे आतीं, जो इस प्रयोजन को पूरा कर सकने में समर्थ हैं।

कला की तरह ही विचारणा भी एक महत्त्वपूर्ण प्रतिभा है, जो लोक-मानस को ऊँचा उठाने या नीचा गिराने में बहुत हद तक सफल होती है। हजारों वर्षों से राजतंत्र चला आता था। विद्वान् रूसो ने प्रजातंत्र की विचारणा प्रस्तुत की और वह लोक-मानस द्वारा स्वीकार की गई। करोड़ों लोगों ने विगत शताब्दियों से उस शासन पद्धति का लाभ उठाया। कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद सिद्धांत को जन्म दिया और एक समय लगभग आधा संसार उस पद्धति के अनुसार चल रहे शासन के अंतर्गत रहा। गौतम बुद्ध, शंकराचार्य,

दयानंद, गांधी, मार्टिन लूथर, कमाल पाशा आदि ने अपने-अपने समयों में अपनी विचारधारा से लक्ष-लक्ष जनता को प्रेरणा दी। विद्वान्, मनीषी, द्रष्टा, चिंतनकर्ताओं का अपना महत्त्व है। वे यदि सही ढंग से सोच सकें और जनता को प्रखर पथ-प्रदर्शन प्रदान कर सकें तो प्रस्तुत समस्याओं को सुलझाने में भारी योगदान दे सकते हैं। उस दृष्टि से आज समाचार पत्रों और विचार पत्रिकाओं का अपना महत्त्व है। वे लोक-मानस के निर्माण करने और दिशाएँ देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका संपादित कर सकती हैं। स्वतंत्रता आंदोलन में जहाँ हमारे नेताओं, उनके अनुयायियों और आंदोलनों का महत्त्व है, वहाँ उन्हें उभारने में उस समय के राष्ट्रीय पत्रों ने भी कम महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। उन दिनों के अधिकांश समाचार पत्र जिस तरह स्वतंत्रता आंदोलन का समर्थन करते थे, उसी तरह यदि कूटनीतिक दाव-पेंचों जितनी प्रखरता वे भावनात्मक नव-निर्माण के लिए देने लगें तो परिस्थितियों के बदलने में भारी सहायता मिल सकती है। बौद्धिक नेतृत्व कर रही इन मनीषी प्रतिभाओं का द्वार हमें इस नये मोड़ के लिए खटखटाना पड़ेगा और इस वर्ग की आवश्यकता पूरी करने के लिए नई प्रतिभाओं को उभारना तथा प्रशिक्षित करना पड़ेगा। स्पष्ट है कि समग्र परिवर्तन का महान् अभियान जहाँ जन साधारण के सहयोग की अपेक्षा करता है, वहाँ प्रतिभाओं को उभारने और उनके द्वारा सही नेतृत्व प्रदान किये जाने की आवश्यकता भी अनुभव करता है। अच्छा हो इस दिशा में हम बहुत सोच-समझकर कुछ कारगर कदम उठाएँ।

यह स्पष्ट है कि सर्व साधारण की मनोभूमि में अभी भी धर्म-आस्था के लिए बहुत स्थान है और औसत व्यक्ति धर्म के नाम पर कुछ न कुछ समय और धन खर्च करता रहता है। कठिनाई यह है कि यह सारा अनुदान कुछ रूढ़ियों और मान्यताओं के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। इनमें विवेक के लिए कम और परंपराओं के लिए अधिक स्थान है। यही कारण है कि धर्म के नाम पर बहुत कुछ किये जाते रहने पर भी धर्म के लिए लगभग कुछ

नहीं किया जा रहा है। धर्म का वास्तविक प्रयोजन विचारों में उत्कृष्ट स्तर की आस्थाएँ और आचरण में आदर्शवादी परंपराएँ प्रतिष्ठापित किये रहता है। पर आज उसे उपेक्षित कर दिया गया "अमुक कर्मकांड करने पर अमुक देवता प्रसन्न हो जाता है और उस प्रसन्नता से अमुक मनोकामना पूरी होती है। अमुक कर्मकांड करने से पापों का दंड न भुगतने की छूट तथा स्वर्ग-मुक्ति जैसी सुविधाजनक स्थिति प्राप्त होती है।" आज की धार्मिकता की धुरी यही है, जिसे विवेक और वास्तविकता की कसौटी पर सर्वथा अवांछनीय एवं मिथ्या ही सिद्ध किया जा सकता है। देवताओं को अमुक कर्मकांड से ऐसा क्या लगाव या लाभ है, जिससे वे अधिकारी-अनधिकारी का विचार किये बिना हर किसी की मनोकामना पूरी करते फिरें ? अमुक कर्मकांड करने पर पाप-कर्मों का दंड नहीं भुगतना पड़ेगा, तो फिर हर व्यक्ति पाप करने से डरेगा क्यों ? और क्यों अनीति अपनाकर उठाये जाने वाले लाभों से चूकेगा ? यदि अमुक पूजा विधान ही स्वर्ग-मुक्ति दे देते हैं तो आत्म निर्माण एवं व्यक्तित्व के परिष्कार जैसी कष्ट-साध्य एवं संघर्षशील साधना लंबे समय तक करते रहने का झंझट कोई क्यों उठाएगा ? यदि आत्म-शोधन की प्रणाली व्यर्थ मान ली गई तो फिर उस क्षेत्र में आदर्शवादी तपस्वी एवं लोक सेवी साधु-ब्राह्मणों की पुण्य परंपरा कैसे जीवित रहेगी ? इन प्रश्नों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आज का रूढ़िवादी धर्म जंजाल अनुपयुक्त ही नहीं, अवांछनीय भी बन चला है। उसकी प्रतिष्ठा से उत्कृष्टता की दिशा में विकसित होने के लिए सहारा न पाकर उलटी अवसादग्रस्त होती है।

धर्म आस्थाओं की वर्तमान दुर्दशा के लिए हमारा धार्मिक नेतृत्व जिम्मेदार है। जिसने अपने कथित धर्म पुस्तकों, कथा-कहानियों और छुट-पुट कर्मकांडों के माहात्म्य को आकाश-पाताल जैसी महत्ता दी और धर्म आचरण एवं लोक मंगल जैसे धर्मतत्त्वों की ओर से लोगों में उपेक्षा एवं अनास्था वृत्ति उत्पन्न

कर दी। फलस्वरूप धर्म तंत्र आदर्शवादी प्रतिभाओं का सृजन करने वाला न रहकर रूढ़ियों और मूढ़ताओं का जाल-जंजाल मात्र बनकर रह गया। इस विकृति को सुधारना उस वर्ग का पवित्र कर्तव्य एवं अनिवार्य प्रायश्चित्त है, जिसके द्वारा धर्म-आस्थाओं को इस दुर्गति में पटक दिया।

आज भारी जनशक्ति और धनशक्ति धर्म तंत्र के पीछे नियोजित है। पिछली जनगणना के अनुसार भारत में ८० लाख साधु, महात्मा तथा धर्मजीवी लोग गिने गये हैं। यदि इतना बड़ा जन-समुदाय धर्म की मूल प्रक्रिया उत्कृष्ट चरित्र एवं लोक-मंगल की साधना में लगा होता तो अपने देश की स्थिति आज बिल्कुल ही भिन्न होती। समस्त संसार में ईसाई पादरी लगभग १० लाख हैं, जिन्होंने चर्च को कितना शक्तिशाली बना दिया। अपने ८० लाख धर्मजीवी यदि धर्म और अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप को समझ सके होते तो उन्होंने भारत ही नहीं समस्त संसार का, मानव जाति का कायाकल्प करके रख दिया होता। उनके द्वारा संचालित रचनात्मक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप संसार में सर्वत्र देवत्व बिखरा पड़ा होता और धरती पर स्वर्ग के मंगलमय दृश्य उपस्थित दीखते। धर्म स्थानों—देव मंदिरों एवं तीर्थों में आज की कीमत के अनुसार प्रायः ६०० अरब से अधिक की स्थिर पूँजी लगी हुई है। उनका वार्षिक व्यय एक खरब रुपया से अधिक है। इसके अतिरिक्त छोटे-बड़े धार्मिक कर्मकांडों एवं उत्सव समारोहों में व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से जो धन व्यय होता है, उसका अनुमान २०० अरब वार्षिक से अधिक है। इतनी बड़ी धनराशि को व्यर्थ नहीं गँवाया जाना चाहिए, वरन् इसे व्यक्ति एवं समाज के उत्कर्ष की दिशा में नियोजित किया जाना चाहिए।

इसके लिए वर्तमान धर्म नेताओं, धर्म गुरुओं, पंडितों, पुरोहितों, कर्मकांडियों को कहा जाना चाहिए कि वे धर्म को रूढ़ि मात्र न रहने दें, वरन् उसे एक उपयोगिता के रूप में परिवर्तित करें। अपनी व्यक्तिगत पूजा, सुविधा एवं संपदा उपार्जित कार्य के

लिए अगणित जन समूह को अवांछनीय मार्गदर्शन करना धर्मतत्त्व एवं उसी की व्याख्याओं के लिए अनुचित है। समय आ गया है कि यह अनौचित्य रोका जाए और उसे औचित्य की दिशा में मोड़ा जाए। मंदिर और देवालय, तीर्थ और मठ जन-जाग्रति एवं लोक-मानस में उत्कृष्टता का अभिवर्धन करने के लिए प्रयुक्त होने चाहिए। यही तो भगवान् की सच्ची पूजा है। धर्म और अध्यात्म का यही तो मूल प्रयोजन है। प्रतिभाओं को अपनी जिम्मेदारी पूरी करनी ही चाहिए। धर्म नेताओं का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है कि धर्म के नाम पर व्यय होने वाली इस निर्धन देश की गाढ़ी कमाई को उपयोगिता की दिशा में मोड़ें। धर्म प्रेमी जनता को समय, श्रम एवं भावनाओं की रचनात्मक सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन में नियोजित करें। धर्म के नाम पर मूढ़ता और प्रतिगामितापन असह्य है। अगली पीढ़ी इसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर देगी और तब राजा-जागीरदारों की तरह धर्म गुरुओं के भी दर्शन दुर्लभ हो जाएँगे। उचित यही है कि वह स्थिति आने से पहले चेता जाए तो नास्तिकता का झंडा लेकर आँधी-तूफान की तरह बढ़ती आ रही बगावत को रोकने के लिए उस आधार को ही सुधार लिया जाए, जिसके कारण धर्म दिन-दिन उपेक्षनीय और बदनाम होता चला जा रहा है।

प्रतिभाएँ अवांछनीय मार्ग न अपनाने पाएँ इसके लिए उन पर आवश्यक दबाव डाला ही जाना चाहिए। कलाकारों और मनीषियों की तरह धर्म गुरुओं के प्रभाव का भी मूल्यांकन किया जाना चाहिए और उसके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली विकृतियों पर अंकुश रखा जाना चाहिए। प्रतिभाएँ उच्छृंखल एवं विद्रूप बनकर रहेंगी तो मानव जाति का सर्वनाश होगा। अतएव उन्हें सुधारा, सँभाला, रोका और मोड़ा ही जाना चाहिए। धार्मिक नेतृत्व जिनके हाथ में है, उन्हें बदलने के लिए विवश होना पड़े, वह परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिए। साथ ही इस प्रयोजन के लिए उपयोगी नेतृत्व का निर्माण एवं प्रशिक्षण भी किया जाना चाहिए। नई धार्मिक प्रतिभाएँ उभारी

जानी चाहिए, ताकि उपयोगिता और अनुपयोगिता का अंतर लोगों की समझ में आ सके और अवांछनीयता का प्रतिरोध एवं उपयोगिता का समर्थन-संवर्धन करने का क्रम चल पड़े।

राजनेताओं की राजनीति की प्रभावशीलता से हम सब परिचित हैं। फलस्वरूप राजनीति में प्रवेश करने, भाग लेने तथा उस क्षेत्र में मूर्धन्य बनने के लिए हर व्यक्ति लालायित है। धीरे-धीरे राजसत्ता ने प्रजा के जीवन का हर पक्ष अपने अधिकार में कर लिया है। अब रोटी खाना और बच्चे पैदा करना तक राजतंत्र के प्रभाव में चले गये हैं। शिक्षा, आजीविका, व्यवसाय, चिकित्सा से लेकर विचार करने की शैली उपलब्ध करने तक के लिए हमें राजकीय प्रभाव के अंतर्गत रहना पड़ता है। अन्न, जल, वायु की तरह ही राजसत्ता ने प्रजा के जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया है। ऐसी दशा में कोई व्यक्ति या संगठन यह तो कह नहीं सकता कि हम राजनीति से अलग हैं या हमारा राजनीति से कोई संबंध नहीं। हम संबंध न भी रखें तो भी वह अपनी पकड़ हमारे ऊपर से ढीली करने वाला नहीं है। अस्तु, राजसत्ता का संचालन करने वाली प्रतिभाओं के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

छोटे पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों से लेकर उच्च अफसरों तक राजतंत्र को चलाने वाला हर कर्मचारी अपनी गतिविधियों से हमारी सुविधा-असुविधा बढ़ाता और प्रसन्नता-द्विविधा को प्रभावित करता है। फिर राजनेताओं का तो कहना ही क्या ? वे यदि स्वार्थी और संकीर्ण प्रकृति के हों तो भाषा, प्रांत और जाति के नाम पर विवाद खड़े करके अपने नेतृत्व के पाये मजबूत बनाये रखने के लिए जन-समूह में भारी विद्वेष और संघर्ष को जन्म देते हैं। अपने लिए अनुचित रीति से धन जमा करने के आधार ढूँढ़ने के लिए लाखों राज-कर्मचारियों को वैसा ही करने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं। तनिक से स्वार्थ के लिए अपने संगठन का निर्देश तोड़ने वाले दल-बदलू जन-जन में अनुशासनहीनता और

निष्ठा को ठोकर मारने की शिक्षा दे सकते हैं। वोट खरीदने और अपना वोट बेचने की कला में निपुण चुनाव जीतने पर भी उनका अनैतिक कर्तृत्व हर किसी में उस घटियापन के लिए रुचि उत्पन्न कर सकता है। राजनेताओं का ओछापन पक्षपात, भ्रष्टाचार, कुशासन, अवज्ञा एवं अनास्था का व्यापक वातावरण बनाता है और जनता का पिछड़ापन सुधारने की अपेक्षा दिन-दिन गहरा होता जाता है। आर्थिक सुविधाओं के लिए किये गये यत्किंचित् प्रयत्न यदि सफल हो जाएँ तो उनका लाभ अनैतिक आस्थाओं से उत्पन्न हानियों की तुलना में नगण्य ही ठहराया जाएगा। राष्ट्रों की प्रगति का एकमात्र आधार उच्च चरित्र है और उसका निर्माण करने की जिम्मेदारी आज की परिस्थितियों में बहुत कुछ सत्ताधारी राजनेताओं के ऊपर आती है। वे अपना घटिया आदर्श प्रस्तुत करते रहेंगे तो जनता से उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता की दिशा में प्रगति करने की आशा दुराशा मात्र ही रह जाएगी।

हम सर्व-साधारण को पैनी निगाह अपने राज-नेतृत्व पर रखनी होगी। गुट या जाति के आधार पर ऐसे लोगों का समर्थन करने से रुकना पड़ेगा, जो चारित्रिक दृष्टि से ओछे सिद्ध हो रहे हैं। जो किसी भी तरह राज-सत्ता हड़पकर अपना उल्लू सीधा करने की दुरभिसंधियों में संलग्न हैं, उनके बहकावे, प्रलोभन एवं आतंक हमें प्रभावित न कर सके, ऐसी दृढ़ता एवं विवेकशीलता उत्पन्न किये जाने की जरूरत है। रंगे सियारों की कलई खुलनी चाहिए। उन्हें दूध में से मक्खी की तरह निकाल फेंकने लायक लोक-मानस जाग्रत् किया जाना चाहिए, ताकि ओछे हथकंडे अपनाने वालों को प्रबुद्ध लोक-मानस के सामने अपनी छीछालेदर होने का भय बना रहे और उनकी छूत दूसरे नेताओं को न लगे।

तिलक, गोखले, गांधी, पटेल, मालवीय जैसे धवल चरित्र वाले राजनेताओं को परख कसौटी पर हजार बार कसे जाने के उपरांत लोक-सम्मान मिला करे, तो राजनीति में सच्चरित्रता की मात्रा बढ़ेगी। राजनैतिक गुंडागर्दी को धिक्कारा और धकेला जाना

चाहिए। उज्ज्वल चरित्र और प्रखर व्यक्तियों को उस क्षेत्र में आगे बढ़ने का अवसर मिले, ऐसा वातावरण बनाया जाना चाहिए। वर्तमान नेतृत्व को अपनी गतिविधियों में से घटियापन निकालने के लिए मजबूर किया जा सके, तो ही राजनैतिक स्वच्छता का लाभ और स्वतंत्रता का आनंद जन-साधारण को उपलब्ध हो सकता है। नये राजनेतृत्व के लिए ऐसी प्रतिभाएँ उभारनी चाहिए, जो दूरदर्शी, साहसी ही नहीं—सेवाभावी एवं चरित्रवान् भी हों। ऐसे व्यक्तित्व उतावली के साथ तुर्त-फुर्त किन्हीं हथकंडों के आधार पर विनिर्मित नहीं हो सकते। उन्हें अपनी लोकसेवा और सच्चाई की वास्तविकता सिद्ध करनी चाहिए, जो केवल भीतर और बाहर समुचित सच्चाई एवं वास्तविकता होने पर ही संभव है।

प्रतिभाएँ समाज एवं राष्ट्र की प्रगति एवं समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं, वे कुमार्गगामी हों तो दुर्गति का कारण भी बन सकती हैं। इसलिए जहाँ जन-साधारण को अपना स्तर व्यापक रूप से सँभालना, सुधारना चाहिए, वहाँ कला-साहित्य, विचारणा, धर्म, राजनीति आदि क्षेत्रों का काम करने वाली प्रतिभाओं पर भी कड़ी निगाह रखनी चाहिए। किसी के चमत्कार का चकाचौंध हमें मोहित न करे, वरन् पैनी निगाह से यह परखा जाए कि उसका उद्देश्य और कर्तव्य लोक-मंगल की कसौटी पर कितना उपयोगी सिद्ध हो रहा है एवं उसका चरित्र, व्यक्तित्व कितना पवित्र है ? नव-निर्माण के लिए प्रतिभाओं पर नियंत्रण रखने के साथ-साथ यह और भी अधिक आवश्यक है कि हर क्षेत्र में उच्च स्तर के प्रखर व्यक्तित्व उत्पन्न हों और वे अपने प्रभाव, चरित्र एवं उत्कृष्ट कर्तृत्व द्वारा जनमानस को उत्कृष्टता की दिशा में अग्रसर करने की आवश्यकता पूर्ण करें।

❐ ❐

# संपत्तियाँ नहीं, विभूतियाँ श्रेयस्कर हैं

मानव-जीवन का महत्त्व प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं, वह संसार की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि तथा सर्वोत्तम अवसर है। इसका सदुपयोग कर मानव से देवता और जीव से ईश्वर बना जा सकता है। किंतु खेद है कि लोग इस मूल्यवान् मानव-जीवन को बड़ा ही घटिया और सस्ता बनाकर जीते हैं। इस सुरदुर्लभ उपलब्धि को सस्ता बना डालना उस विधायक की कृपा का अपमान करना है, जिसने इस अनुग्रह को किया है। अपने मानव-जीवन को सस्ता नहीं, गौरव और गरिमापूर्ण बनाकर जीना चाहिए। परमात्मा के प्रतिनिधि मनुष्य को यही योग्य है कि वह अपने पद के अनुसार ही अपने जीवन को बनाये और चलाये।

मानव जीवन शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा तथा आचार-विचार, भावना, आशा, अभिलाषा, विश्वास तथा क्रियाओं का समन्वय है। इन सबसे मिलकर ही यह मानव-जीवन बनता और पूर्ण होता है। इनके अभाव में मानव-जीवन का अस्तित्व या तो अपूर्ण हो जाता है या मिट जाता है। मानव-जीवन के इन तत्त्वों को जितना महान् और गौरवपूर्ण बनाया जाएगा, मनुष्य उतना ही ऊँचा उठता और विशाल बनता जाएगा। किंतु खेद है कि अज्ञानवश मनुष्य जीवन के इन तत्त्वों में सस्तापन भरकर मनुष्य होते हुए भी पशुत्व की परिभाषा से संबंध स्थापित कर लेता है। मनुष्य को निकृष्ट नहीं उत्कृष्ट बनना चाहिए। इतना उत्कृष्ट कि उसे देखते ही उसके रचयिता का सच्चा-स्वरूप उसी तरह मानस-पटल पर झलक उठे, जिस तरह कर्तृत्व देखकर कलाकार का व्यक्तित्व प्रतिबिंबित हो उठता है।

विचार मानव-जीवन की एक विशेष शक्ति है। किंतु मनुष्य उसमें सस्तापन लाकर उस शक्ति को कुंठित अथवा प्रतिगामिनी बना डालते हैं। विचारों का सस्तापन है—असभ्यता, असंस्कृति,

अभद्रता तथा अवांछनीयता। जो लोग स्वार्थ की सीमित परिधि में रहकर अपने लाभ की ही सोचते रहते हैं, वे सस्ते और ओछे सोच-विचारों वाले होते हैं। मैं व्यापार करूँगा, धन कमाऊँगा, संपत्ति और साधन संचय करूँगा और फिर समाज में अपना प्रभाव स्थापित कर लोगों पर शासन करूँगा, उनसे पूजा और प्रतिष्ठा वसूलूँगा। अपने साधनों और सुविधाओं के बल पर मैं अपने लड़कों को उच्च से उच्च शिक्षा दिलाकर और अपने प्रभाव की विरासत देकर इस योग्य बना दूँगा कि वे मेरी तरह ही समाज में अपने प्रतिष्ठापूर्ण स्थान का आनंद भोग कर सकें। इस प्रकार के विचार, जिनमें पद-पद पर 'स्व' और स्वार्थ लगा हो सस्ते, तुच्छ और ओछे होते हैं। ऐसे 'स्ववादी' लोग उन्नति और सफलता पाकर भी शांति और संतोष के लिए तरसते रहते हैं। वे उच्च पद पर पहुँचकर भी निकृष्ट और निम्नकोटि के बने रहते हैं।

उन्नति, विकास और मान-सम्मान पाने का विचार बुरा नहीं। बुरा है, उसमें 'स्व' और स्वार्थ को जोड़ लेना। यदि उस उपलब्धि की कामना का विचार इस प्रकार किया जाए कि मैं उद्योग करूँगा, धनवान् बनूँगा, समाज की एक इकाई के रूप में उसकी श्री वृद्धि में सहयोग करूँगा, अपने व्यवसाय से समाज की सुविधा बढ़ाऊँगा, यथा-संभव उसकी सहायता करूँगा, बच्चों को योग्य बनाकर अच्छे नागरिकों के रूप में समाज की सेवा के लिए समर्पित कर दूँगा और तब इस सेवा के उपलक्ष्य में यदि समाज हमें सराहना, सम्मान और पद-प्रतिष्ठा देगा तो उसे सहर्ष शिरोधार्य करूँगा और फलस्वरूप अपनी सफलता का आनंद भोगूँगा। केवल 'स्व' से हटकर 'सर्व' और स्वार्थ से बढ़कर परमार्थ की ओर विचारधारा को मोड़ देने से उन्हीं विचारों का सस्तापन दूर हो जाएगा और उनमें गौरव-गरिमा का समावेश हो जाएगा।

भावनाओं को मनुष्य-जीवन में दैवी तत्त्व माना गया है। जो भावना-प्रवण और भावना-प्रधान है, वह मनुष्य होते हुए भी मनुष्य से आगे का व्यक्ति होता है। कला, काव्य और संतत्व भावना के ही पुण्यफल माने गये हैं। ऐसी दिव्य वस्तु को भी लोग सस्तेपन से दूषित कर निकृष्ट तथा निम्नकोटि का बना देते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेष आदि सारे विकार भावनाओं का ही हल्का औरं सस्तापन है। जरा-सा विपर्यय देखकर क्रोध से भड़क उठना, प्राप्ति योग्य वस्तु देखकर तुरंत लोभ में आ जाना, जरा-सी उत्तेजना पाकर काम के वशीभूत हो जाना, किसी की तुलना में अपनी स्थिति को छोटा देखकर ईर्ष्या-द्वेष करने लगना आदि क्षिप्रताएँ भावना का ही सस्तापन है। ऐसी सस्ती भावना वाले लोग मानव से महामानव बनना तो दूर—पूरे मनुष्य भी नहीं बन पाते। जबकि विकास क्रम का तकाजा है कि मनुष्य पीछे की ओर लौटकर अल्पमानव न बने, बल्कि आगे बढ़कर पूर्ण और अतिमानव बने। किंतु खेद है कि लोग सस्तेपन के वशीभूत होकर अपने महत्त्व का मूल्यांकन नहीं कर पाते।

क्रोध की स्थिति को शांति, काम की परिस्थिति को गंभीरता, लोभ की स्थिति को निस्पृहता, मोह की स्थिति को विवेक और ईर्ष्या तथा द्वेष की स्थिति को तटस्थता से उत्तर देना भावनाओं की गरिमा, गंभीरता और गुरुता का प्रमाण देना है। ऐसी गहरी और दृढ़ भावनाओं वाले लोग यदि कोई विशेष उन्नति के लिए न भी लालायित हों तो भी अपने आंतरिक स्वरूप में वे बड़े ही महान् और सुखी रहते हैं।

आशा और अभिलाषा को जीवन का प्रेरक तत्त्व माना गया है। इन्हीं के आधार पर मनुष्य उठता और आगे बढ़ने के लिए प्रयत्न करता है। आशा और अभिलाषाएँ जीवन की वह हरियाली हैं, जिसके अभाव में यह महत्त्वपूर्ण अवसर मरुस्थल की तरह नीरस और निःसार बन जाता है। जीवन के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को भी

लोग सस्तेपन से घेरकर निकृष्ट बना डालते हैं। जीवन में नश्वर तथा निःसार वैभव तथा भोगों की कामना करते रहना अथवा उनके अनुसार मरते-खपते रहना कामनाओं का सस्तापन है। मुझे धन मिल जाए। मेरे बेटा हो जाए। मैं बड़ा आदमी बन जाऊँ। मैं आराम से रहकर सुख-सुविधा भोग सकूँ, आदि अभिलाषाएँ और दूसरों से अकारण सहायता, सहयोग तथा थोड़ा देकर बहुत पाने की आशा—आशा और अभिलाषाओं का सस्तापन है। संसार के नश्वर भोगों और अस्थिर-वैभव की कामना क्या है ? यह तो साधारण-सी प्रक्रिया है। संसार में नित्य ही लोग धन कमाते और उसका भोग करते और अंत में छोड़कर चले जाते हैं।

जिन वस्तुओं में मनुष्य का सहज अधिकार है, उनकी कामना करना अभिलाषाओं के ओछेपन के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। जब परमात्मा ने दूसरों की तरह ही अपने को भी शक्ति सामर्थ्य दी है। हाथ-पाँव, शरीर और बुद्धि दी है, तब अपंगों की तरह दूसरों से सहायता तथा सहयोग की अकारण आशा करना, आशा के सस्तेपन के सिवाय और क्या कहा जाएगा ?

अभिलाषा तथा आशा का यह स्वरूप जिसमें आत्म निर्भरता, कल्याण भाव तथा निर्लोलुपता का गुण विद्यमान हो, मनुष्य के लिए उचित और योग्य है। अभिलाषा यदि करनी है तो नश्वर सांसारिकता की नहीं, बल्कि अनश्वर आत्म-तत्त्व की ही करनी चाहिए। चाहना चाहिए कि, ईश्वर मुझे ऐसी शक्ति और सद्भावना दें, जिससे मैं समाज, संसार और राष्ट्र की सेवा कर सकूँ। परमात्मा ऐसी कृपा करे, जिससे कि मैं भोगों के बीच रमण करता हुआ भी निष्काम तथा निर्मोह बना रहूँ। ईश्वर मुझे ऐसी बुद्धि दे, जिससे मैं ऋषि-मुनियों के, आदर्श और आप्तपुरुषों की वाणी अपने विचार, विश्वास तथा आचरण में चरितार्थ कर सकूँ। इस प्रकार की अभिलाषा वास्तव में बड़ी महान् अभिलाषा है। ऐसा महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति तीनों लोकों में और दशों-दिशाओं में अपने लिए त्रयकालिक

कुशल क्षेत्र को सुरक्षित करा लेता है। धन्य हैं वे महत्त्वाकांक्षी, जो इस प्रकार की महान् आकांक्षा रखते हैं।

विश्वास मानव-जीवन का बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, विश्वास को मानव-जीवन का मेरुदंड कह लिया जाए, तब भी अनुचित न होगा। विश्वास के आधार पर ही जीवन टिका है। सफलता के विश्वास पर ही लोग पुरुषार्थ करते हैं। विश्वास के आधार पर आत्मा और परमात्मा की खोज होती है और विश्वास के आधार पर ही मनुष्य मृत्यु तक को जीत लेता है। ऐसे अनुपम तत्त्व विश्वास को भी मनुष्य सस्तेपन से दूषित कर निकृष्ट तथा निरर्थक बना देता है।

बिना विचार किए किसी विचार अथवा व्यक्ति पर विश्वास कर लेना, भूत-प्रेतों और पिशाचों की ओर विश्वास को ले जाना, मान्यताओं तथा धारणाओं की तथ्यता जाने बिना विश्वास बना लेना, अंध-विश्वास, अतिविश्वास अथवा किन्हीं परिस्थितियों में असफलता अथवा अनिष्ट का विश्वास बना लेना विश्वास का सस्तापन ही है। विश्वासों के सस्तेपन से मनुष्य की शक्तियाँ कम हो जाती हैं और वह अनेक प्रकार की शंकाओं, संदेहों तथा भयों से घिर जाता है। ऐसी दशा में उसे जीवन में बड़ी दयनीय असफलताओं का मुख देखना पड़ता है।

विश्वास करना अथवा रखना एक महान् गुण है। किंतु जिसके प्रति विश्वास बनाया जाए, उसकी प्रामाणिकता को पहले परख लिया जाए। विश्वास बड़ा मूल्यवान् भाव है, इसे न तो किसी अपात्र को शीघ्र देना ही चाहिए और न किसी अयोग्य के विश्वास की कामना ही करनी चाहिए। साथ ही जिस विषय में समझ-बूझकर विश्वास बना लिया जाए तो उसका दृढ़तापूर्वक निर्वाह भी किया जाना चाहिए। आज विश्वास बनाया कल तोड़ दिया। विश्वास का यह सस्तापन न तो योग्य है न वांछनीय ! भूतों-प्रेतों, पिशाचों आदि जैसी अशिव आत्माओं में विश्वास न कर एक पूर्ण तथा अविच्छिन्न

परमात्मा और उसके कल्याणकारी स्वरूपों में अखंड विश्वास रखा जाना विश्वास की गरिमा, गंभीरता और महत्त्व का द्योतक है। सफलता, उन्नति और प्रगति का आत्म-विश्वास ऐसी साधना है, जो जीवन को बड़े से बड़े अंधकार से निकालकर प्रकाश की ओर ले जाती है। मांगलिक विषयों तथा आत्मा और परमात्मा में अपने विश्वास तत्त्व को सुस्थिर बनाकर उसकी गरिमा तथा महिमा की वृद्धि करनी चाहिए।

शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का मानव जीवन में कितना महत्त्व है, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। जीवन का अस्तित्व शरीर से है। उसका संचालन मन से होता है। उसकी सुरक्षा बुद्धि से संभव होती है और उसमें ओत-प्रोत आत्म-तत्त्व उसे जाग्रत्, चेतन तथा उद्‌बुद्ध बनाये रखता है। किंतु मनुष्य अपने अज्ञान के कारण इन उपादानों को भी अमहत्त्वपूर्ण मानकर सस्ता बना लेता है। विषय-वासनाओं तथा अपकर्मों में शरीर द्वारा इंद्रियों की दासता करना शरीर का सस्तापन है। मन को निर्बल बना लेना, जरा-सी बात पर रो उठना, कतिपय प्रसंग पर हँस उठना, भावुकतावश उदारता, त्याग और दानवीरता की अभिव्यक्ति करना एवं क्षिप्रतापूर्वक किसी के प्रति सद्‌भावना अथवा असद्‌भावना बना लेना मन के सस्तेपन की निशानी है।

विवेक का उपयोग किए बिना शीघ्रता से निर्णय ले लेना, गहराई से तथ्यों में उतरे बिना किसी का मूल्यांकन कर देना—कुटिलता, छद्‌म अथवा असत्य के लिए बुद्धि का उपयोग करना—उसे सस्तेपन से दूषित कर डालना है। आत्मा की आवाज न सुनना, उसकी उपेक्षा करना, नास्तिकता को प्रश्रय देना, आत्मा की तुलना में शरीर को महत्त्व देना अथवा उसका चिंतन करना—आत्मा के प्रति सस्तापन उपस्थित करना है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा को सस्ता मानकर चलने वाले किसी भी श्रेय के अधिकारी नहीं बन पाते। इस अपराध के कारण वे स्वयं भी

अस्तित्व और व्यक्तित्व से सस्ते होकर एक निकृष्ट तथा निम्नकोटि का जीवन भोगा करते हैं।

शरीर को स्वस्थ, नियंत्रित व संयमित रखना, बुद्धि को स्थिर, निर्णायक तथा चिंतनशील बनाना, मन को बलिष्ठ, विश्वासी तथा अविचल रखना, आत्मा को जीवन का सर्वोपरि तत्त्व मानकर उसका सम्मान करना, उसका निर्देश मानना और उसका चिंतन करना—शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा को महत्त्वपूर्ण बनाना है। जो महानुभाव जीवन और उसके समग्र तत्त्व से सस्तेपन को निकालकर उनमें महत्त्व, गरिमा तथा आदर्श का समावेश करते हैं, वे निश्चय ही मानव से महामानव और जीव से ईश्वर बनकर अपना अंतिम लक्ष्य पा लेते हैं। जीवन बड़ा महत्त्वपूर्ण अवसर है, इसे सस्ता न बनाना चाहिए।

❐ ❐

# विभूतियों को सत्पथगामी बनना पड़ेगा

प्रतिभाएँ ईश्वरीय अनुदान हैं। वे किन्हीं विशेष मनुष्य को इसलिए मिलती हैं कि उन्हें लोक-मंगल के लिए दी हुई ईश्वरीय अमानत माना जाए और उस विशेष उपहार को वासना, तृष्णा एवं अहंकार की पूर्ति के लिए नहीं, वरन् लोक-मंगल की दिशा में लगाया जाए। यह तथ्य यदि प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने समझ लिया होता और अपने उस विशेष अनुदान के साथ मिले विशेष कर्तव्य को भी ध्यान में रखा होता तो संसार की परिस्थितियाँ आज दूसरी ही हुई होतीं।

फासिस्ट जर्मनी के अधिनायक 'हिटलर' ने सिनेमा का पूरा उपयोग जर्मन जनता को युद्धलिप्सु बनाने के लिए किया था। इतने बड़े प्रचार तंत्र का उपयोग उसने अपनी रुचि और आवश्यकता के लिए किया। फल आशातीत हुआ। उन दिनों जर्मनी का हर नागरिक विश्व विजय के स्वप्न देखने और अपने देश को विश्व का मुकुटमणि बनाने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को आतुर हो रहा था। जनता की मनोवृत्ति को सिनेमा जैसे प्रचारतंत्र की दिशा देकर किसी भी दिशा में बदला जा सकता है। आज के अधिकांश फिल्म निर्माता, गायक, वादक, अभिनेता जबकि जन-मानस में कामुकता, उच्छृंखलता जैसी उथली मनोवृत्तियाँ उभारने में अपने को जुटाये हुए हैं तो वैसा प्रतिफल भी सामने प्रस्तुत है। अब नेता की अपेक्षा अभिनेता बनने का आकर्षण अपनी नई पीढ़ी को बुरी तरह आकर्षित कर रहा है। नई पीढ़ी की कोमल कलियों की मक्खन जैसी मनोभूमि उधर ही ढलती जा रही है, जिधर हमारा सिनेमा ढालना चाहता है।

यदि फिल्म तारिकाएँ अपनी कला को मीरा की परंपरा में जोड़कर हाव-भाव में भगवान् की भक्ति का संचार करने निकल पड़ी होतीं तो वे जनता को भक्ति रस में डुबो देती। मिस इंडिया और मिस बंबई यदि अपने रूप का आकर्षण फ्रांस की देवी जोन

ऑफ आर्क और भारत की अंबपाली की तरह लोक नेतृत्व में जुटा सकीं होती, तो उन्होंने अपने रूप और कंठ से प्रभावित जनता को निर्माण के लक्ष्य की ओर बहुत आगे तक बढ़ा दिया होता। अभिनेताओं के कला मंच यदि आदर्श और उद्देश्य को साथ मिला देते तो राष्ट्र की बौद्धिक गुलामी, अंधमान्यता, कायरता को पानी की तरह बहाकर रख देते। कुरीतियों के प्रति जन विद्रोह खड़ा हो गया होता और भारतीय कला का रचनात्मक इतिहास संसार के सामने एक नया आदर्श रख सका होता।

ऋग्वेद के अनुसार मानव की समष्टि आत्मा अभी भी एक ही स्वर पुकारती है—"हमें देवों के पाप से बचाया जाए।" कुमार्गगामी प्रतिभाएँ जितना अहित कर सकती हैं, उतना कोई नहीं कर सकता है। हम अपने पापों से भी अधिक देवों के, प्रतिभाओं के, पापों का दंड भोग रहे हैं और दुर्गति के गहन गर्त में पड़े कराह रहे हैं। इस स्थिति तक पहुँचने से हमारे प्रमाद ही नहीं देवों का पाप भी बहुत हद तक जिम्मेदार है। छोटे अबोध बालक भी अब फिल्मी अश्लील गानों को बड़ी रुचिपूर्वक गाते हैं। जब भी गाने को जी करता है नट-नटनियों के कुत्सित स्वर ही हमारे मस्तिष्क में गूँजते और जीभ में प्रश्रित होते हैं। कला हमें जब कुत्सा की ओर ही घसीट लेने के लिए कटिबद्ध है तो साधारण मनोबल की जनता उसके पीछे घिसटते चलने के अतिरिक्त और क्या करे?

हजार वर्ष की गुलामी से उठा अपना दुर्बल देश इन दिनों अनेक मानसिक, चारित्रिक एवं सामाजिक उत्कर्षों के लिए मार्गदर्शन का भूखा बैठा है। उसकी क्षुधा बुझाने में प्रयुक्त होकर कला जन-नेतृत्व कर सकती थी और अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकती थी। पर आज तो वह गिरे को गिराने—मरे को मारने की नीति अपना रही है और 'कला कला के लिए' जैसे झूठे नकाब ओढ़कर अपनी अवांछनीयता पर पर्दा डालने की कोशिश कर रही है।

घरों में—टँगी रहने वाली तस्वीरें—अब कलेंडर विज्ञापन के कारण अति सस्ती—लगभग मुफ्त मूल्य पर मिलने लगी हैं। हर दुकान पर टँगे हुए कलेंडरों में अब हमें अपनी वयस्क बेटियों और बहिनों को वेश्याओं की तरह निर्वसना और कुत्सा भड़काने वाले निर्ल्लज्ज भाव प्रदर्शित करते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं। पूर्वकाल में चित्र खरीदना धनी मानियों का काम था, तब वे बहुत महँगे थे। अब तो वे कौड़ियों के मोल और कलेंडरों के माध्यम से विज्ञापनबाजी करने वाले व्यवसायियों की कृपा से लगभग मुफ्त मिलते हैं। मुफ्त की सस्ती चीजें तो बिना जरूरत के भी ले ली जाती है। फिर इन उच्छृंखल को कौन न लेगा ? अब घर-घर दुकान-दुकान पर नारी का वह स्वरूप इन तस्वीरों के माध्यम से उभर रहा है, जिसके प्रति आदर्शवाद ने सदा उपेक्षा, गोपनीयता एवं अवांछनीयता का समर्थन किया है।

निस्संदेह नारी नर से श्रेष्ठ है। वह माँ, बहिन और बेटी की अति पवित्र दृष्टि से देखी जाने योग्य देवी है। नारी का सम्मान मनुष्यता का सम्मान है। इस गौरव के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति किसी समाज की महानता और उज्ज्वल भविष्य की संभावना व्यक्त करती है। इन देवियों को शालीनता की प्रतिभा और श्रद्धा की प्रतीक समझा और रखा जाना चाहिए। हमारी आँखें उनके प्रति सहज पवित्रता एवं श्रद्धा से भरी रहनी चाहिए। पर जब दर्शो-दिशाओं में उसका रमणी, कामिनी रूप ही निखारा जाएगा और उसे वेश्या की तरह उत्तेजक बनाकर खड़ा किया जाएगा तो हर मन में छिपा हुआ असुर भड़केगा ही। नारी का सहज आदर्श सँजोये रखना उसके दुर्बल मन के लिए कैसे संभव होगा ? पतनोन्मुख होने के लिए चित्र प्रचार से मोहित किया हुआ दुर्बल मानस क्रमशः मानसिक व्यभिचार से आगे बढ़ता हुआ शारीरिक अभिचार की ओर द्रुतगति से बढ़ना चाहिए। देखने में बात जरा-सी है—बाजारों में बिकने या मुफ्त बँटने वाले कलेंडरों, पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले आकर्षक चित्रों के पीछे हमें एक ही कुत्सा अट्ठहास

करती दीखती है। जिसका अर्थ है—युवा नारी का निर्वसन, निर्लज्ज कामुकता का आकर्षण। लगता है अब इसके अतिरिक्त नारी जीवन का कोई अंश देखने लायक रहा ही नहीं। वेश्या के अतिरिक्त बालक-बालिका, पशु-पक्षी, प्रकृति, नदी-सरोवर, पुष्प-पल्लव आदि में कहीं कोई आकर्षण है ही नहीं। चित्रकार के लिए चित्र, प्रकाशक के लिए कला का और कोई क्षेत्र छूने योग्य रहा ही नहीं। जो किया जा रहा है, उससे निस्संदेह हमारा भीतरी असुर—मानसिक व्यभिचार में ग्रस्त होगा और फलस्वरूप हमारी सारी उत्कृष्टताएँ जड़ कटे वृक्ष की तरह जमीन पर गिरकर मुरझा जाएँगी।

साहित्य ने, कविता ने शृंगार, सांगोपांग-विरह, काम-कलाप, कामिनी स्मरण, रीतिकाल जैसी कुत्साएँ ही चित्रित करते रहने तक अपनी सीमाएँ आबद्ध कर लीं तो जहाजों को मार्गदर्शन करने वाले प्रकाश स्तंभ बुझ ही जाएँगे। कुत्साएँ तो अपने आप उभरती रहती हैं। मौसम आने पर कुत्तों से लेकर कीट-पतंगों तक काम-कौतुक के आवेश से स्वमेव उन्मत्त हो जाते हैं। वासना की प्रेरणा इतनी प्रबल है कि उसे नियंत्रित रखा जा सके तो ही उचित है। यदि उसे भड़काया गया तो यह आग हमारी पारिवारिक पवित्रता को, दांपत्य-जीवन की वफादारी को स्वाहा करके छोड़ेगी। साहित्य—सरस्वती का स्वरूप है। उसे मानवीय महत्ता में आग लगाने के लिए प्रयुक्त न किया जाए। कविता—स्वर्गीय अभिव्यक्ति है, इसे कामुकता भड़काने जैसे गर्हित प्रयोजन के लिए नियोजित न किया जाए। जब कवि की कल्पना और लेखक की सर्जना मनुष्य का पशु और पिशाच बनाने में अपना जौहर दिखाने लगी तो बम-वर्षकों, टैंकों, तोपों और अणुबमों से भी भयावह विनाश इस संसार का होगा। अच्छा हो यह विनाश क्रम रुक जाए और साहित्य एवं कवित्व के देवताओं को विश्व विनाश के लिए तांडव नृत्य करने से किसी प्रकार अनुनय-विनय करके रोक लिया जाए।

धर्म के नाम पर चल रही प्रतिगामिता, पलायनवाद, अकर्मण्यता, मूढ़ता, भ्रांति एवं शोषण की दुष्टता भले ही अनजाने आरंभ हुई है। भले ही भावुकता के प्रवाह में परिणामों का मूल्यांकन न करने की चूक हो गई हो, पर निस्संदेह उसका वर्तमान स्वरूप व्यक्ति और समाज को पीछे ही धकेल रहा है, धकेलता रहेगा। हम देखते हैं कि पूजा-पाठ करने और धार्मिक कहे जाने वाले लोग अपनी वैयक्तिक एवं सामाजिक उपयोगिता बुरी तरह नष्ट कर रहे हैं। कल्पना लोक की उड़ानें उन्हें वास्तविकता की ओर से आँखें बंद कर लेने के लिए फुसलाती हैं और वह तथाकथित धार्मिक या अध्यात्मवादी तात्त्विक परीक्षण करने पर एक निर्जीव-निकम्मी कठपुतली भर बना हुआ दीखता है। बुद्धिजीवियों द्वारा धर्म को अफीम की गोली कहा जाता है, जो आदमी को वास्तविकता की ओर से आँखें बंद कर अवास्तविक कल्पनाओं में उड़ते रहना सिखाती हैं। आरोप सर्वथा मिथ्या नहीं है। चीन की ५० लाख सेना संसार में सबसे बड़ी सेना मानी जाती है। हमारे पास ८० लाख धर्मजीवियों की सेना है। यदि इतने लोग सजीव सक्रिय और वास्तविकतावादी रहे होते, तो उन्होंने भारत ही नहीं विश्व को प्रगति, समृद्धि और शांति की स्वर्गीय परिस्थितियों में पहुँचा दिया होता। ६०० अरब रुपये साल की विशाल धनराशि जो धर्म के नाम पर हर वर्ष खर्च होती है, न जाने कितने प्रगतिशील रचनात्मक कार्यों को जन्म देती और उसके फलस्वरूप मानवता का स्तर न जाने कितना ऊँचा उठ गया होता।

इतनी विशाल जनशक्ति और धनशक्ति की, साधन-सामग्री की व्यवस्था होते हुए राष्ट्र की कोई प्रगति नहीं। राष्ट्र की बात जाने दीजिए इन धर्मजीवियों की निजी उपयोगिता भी सिद्ध न हो, तो देखना होगा कि मूल में ही तो कहीं गलती नहीं हो रही है। निस्संदेह पिछले दिनों भारी दिशा भ्रम हुआ है और हम एक बहुत लंबी यात्रा गलत दिशा में कर चुके। अब वापस लौटने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। इस दिशा में बढ़ते हुए हम कटीली

झाड़ियों में फँस गये, आगे और बढ़ते गये तो उस निबिड़ कंटक वन में फँस जाएँगे, जिसमें से बचकर वापस लौट सकना भी संभव न होगा।

धर्म अध्यात्म को देवी-देवताओं की भौतिक मनोकामनाओं की पूर्ति का कल्पवृक्ष नहीं—उत्कृष्टता की ओर चलने का प्रकाशदायी माध्यम माना जाना चाहिए। कथा-सत्संग को सुनने मात्र से पुण्य लूटने का नुस्खा नहीं—अनाचार की ओर से विरति और सदाचरण की ओर अभिरुचि का केंद्रबिंदु समझा जाना चाहिए। कर्म-कांडों की आकाश-पाताल का माहात्म्य अथवा देवता और रिश्वत नहीं—आंतरिक उत्कृष्टता अभिवर्धन का एक प्रभावशाली, मनोवैज्ञानिक प्रयोग माना जाना चाहिए। तीर्थयात्रा को स्वर्ग का टिकिट बाँटने वाला मुफ्त का टिकट घर नहीं—धर्मवेत्ताओं के सम्मिलित, विचार विनिमय एवं प्रशिक्षण का उपयुक्त स्थल बनाया जाना चाहिए। चारित्रिक एवं मनोविकारों के उपचार का ऋषि-मनीषियों द्वारा संचालित चिकित्सालय जैसा उपयोग भी तीर्थों का हो सकता है। धर्म-गुरुओं की, संत-महंतों की पूजा तो है, पर इसके लिए उन्हें अपनी चारित्रिक उत्कृष्टता प्रखर तपश्चर्या एवं लोक-सेवा के लिए किये गये बड़े से बड़े त्याग-बलिदान का परिचय देकर अपनी पवित्रता सिद्ध करनी चाहिए। वेश-वंश या गद्दी के आधार पर किसी को भी पूजा प्राप्त करने का अधिकार न मिले। देव-मंदिर—जन कल्याणकारी प्रवृत्तियों के केंद्र बनें—न कि पाषाण प्रतिमा के साथ मन बहलाव करते रहने से भारी धन उड़ाया जाता रहे। पाप से बचने, छोड़ने और किये हुए कठोर प्रायश्चित्त करने की प्रेरणा देना धर्म का काम है—उसे पापों का दंड न मिलने की छूट देने वाला वह आधार न घोषित किया जाए, जिससे पाप का फल मिलने के भय से ही लोग निश्चिंत हो जायें और चौगुने-सौगुने पाप करने पर उतर आयें। ईश्वर को बालक समझकर उसे बहकाने- फुसलाने के चापलूसी या प्रवंचना भरे खेल-मेल करने की तरकीबें बताने की अपेक्षा आस्तिकता का उद्देश्य यह होना चाहिए

कि ईश्वर की सर्वव्यापकता और न्यायशीलता का तथ्य हृदयंगम कराए और सद्भावनाओं एवं सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन द्वारा ईश्वर प्राप्ति की संभावना व्यक्त करें।

उपरोक्त प्रकार के परिवर्तन धर्म और अध्यात्म के वर्तमान स्वरूप में किये जाने नितांत आवश्यक हैं। प्रचलित धर्मवादी मूढ़ता जनता को मूर्ख और धर्म गुरुओं को धूर्त बनाने के लिए अधिकाधिक पथ प्रशस्त करती रहेगी। धर्म एक शक्ति है और धर्म-नेतृत्व कर सकने की क्षमता एक प्रतिभा। धर्म गुरुओं की प्रतिभा मूढ़ता के अभिवर्धन और अपना वर्चस्व बनाने-बढ़ाने में प्रयुक्त नहीं होनी चाहिए। यदि प्रतिभाएँ संगठित होकर मानव-जाति की सामयिक आवश्यकता पूर्ण करने के लिए मुड़ जाएँ तो जो कार्य सरकारें सौ वर्ष में नहीं कर सकतीं। उन्हें धर्म-प्रतिभाएँ पाँच वर्ष में कर सकती हैं। जनता की धर्म भीरु मनोभूमि—धर्म गुरुओं का प्रभाव इस क्षेत्र के साथ जुड़ी हुई ८० लाख सेना तथा सरकारों को टैक्सों से मिलने वाली धनराशि से भी कहीं अधिक उपलब्ध पूँजी एवं साधन-सामग्री यदि रचनात्मक दिशा में मोड़ी जा सके तो प्रगति के पथ का कौन-सा अवरोध है, जो हटाया-मिटाया नहीं जा सकता ? धर्म क्षेत्र की प्रतिभाएँ प्राचीन काल में सन्मार्गगामिनी थी तो सर्वत्र स्वर्गीय वातावरण फैला पड़ा था, अब उन्होंने उलटा रास्ता अपनाया तो परिस्थितियाँ भी उलटी हो गईं। धर्म जो किसी समय मनुष्य जाति का जीवन प्राण था; अधार्मिकता का आरोप किसी का सबसे बड़ा तिरस्कार था, अब वस्तुस्थिति बदल जाने से धार्मिकता को दकियानूसी का और धर्म निरपेक्षिता को प्रगतिशीलता का चिह्न माना जाने लगा है। इससे यों हम सभी दोषी हैं, पर अधिक दोष उन प्रतिभाओं का है, जो जनता के भोलेपन का अनुचित लाभ उठाने में अपने कर्तव्य-धर्म से दिन-दिन च्युत होती चली गईं।

राजनीति पर से धर्म का अंकुश हटा तो वह निरंकुश हो गई। युद्ध, प्यार और राजनीति में सब कुछ उचित-अनुचित चलता है।

इस मान्यता ने उपरोक्त तीनों ही तथ्यों को निकृष्ट स्तर का बना डाला। राजनेतृत्व का उत्तरदायित्व धर्म नेतृत्व से बढ़कर है, जबकि राजतंत्र अब जनता के भौतिक ही नहीं, आंतरिक जीवन को प्रभावित करने के साधनों पर भी कब्जा जमा चुका है। शिक्षा राजसत्ता के हाथ में है। शिक्षा के माध्यम से लोक-मानस एवं पीढ़ियों का चरित्र तैयार होता है। किसी जमाने में यह क्षेत्र पूर्ण-रूपेण ऋषि-मनीषियों के हाथ में था। अब तो नोट छापने की तरह सरकार ही अपनी शिक्षा पद्धति द्वारा पीढ़ियों के मन छापती है। ऋषियों से शिक्षा का उत्तरदायित्व छिनकर अब सरकार के सुपुर्द हो गया तो यह आवश्यक था कि इस क्षेत्र में ऋषियों जैसी दूरदर्शिता और सदाशयता काम करती। साँचा खराब होगा तो ढालने वाली चीजें खराब बनेंगी। शिक्षा संचालक तथा शिक्षा पद्धति सदोष होगी तो उसके ढाँचे में ढला शिक्षित वर्ग अपने में ढलाई के सारे दोष प्रदर्शित करेगा।

शासन ने दैनिक जीवन की गतिविधियों पर नियंत्रण कर लिया है। अब हमें अन्न, वस्त्र, चीनी, बिजली, व्यवसाय, आजीविका, चिकित्सा, वाहन आदि सरकारी नियंत्रण के अंतर्गत मिलते हैं। न्याय और सुरक्षा के लिए उसी पर निर्भर हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता दिन-दिन सीमित होती जा रही है और राजसत्ता प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मनुष्य जीवन पर हावी होती चली जा रही है। प्रचार साधन सब उसी के हाथ में हैं। पत्र-पत्रिकाएँ, प्रेस, प्रकाशन आदि सरकारी प्रोत्साहन से परमिट, विज्ञापन, कर्ज, अनुदान लेकर देखते-देखते आकाश तक बढ़ सकते हैं और जरा-सी टेढ़ी नजर हो जाने पर वे सुविधाओं से वंचित होकर प्रतिद्वंद्विता में लड़खड़ाकर जमींदोज हो सकते हैं। रेडियो, सरकारी टेलीविजन, सरकारी सिनेमा-सरकार की अनुमति बिना एक तस्वीर नहीं दिखा सकता, कुछ प्रचार करना हो तो सरकारी साधन ६६ प्रतिशत करेंगे और अपने पाँवों पर खड़े होकर प्रचार करने वालों को १ प्रतिशत भी साधन न मिलेंगे। कानून बनाना और उन्हें कार्यान्वित करना सरकार का काम है। राजसत्ता

अब पुराने-जमाने जैसी सुरक्षा एवं न्याय की व्यवस्था तक सीमित और नियत टैक्स लेकर छुट्टी पाने वाली नहीं रही। अब वह धीरे-धीरे चुपके-चुपके पूरी तरह जन-जीवन पर आच्छादित होती चली जाती है। इसलिए इस क्षेत्र में लगी हुई प्रतिभाओं की ओर सबसे अधिक सतर्कता बरती जानी चाहिए। काम कानून नहीं व्यक्ति करते हैं। संविधान कितना ही निर्दोष क्यों न हो—कानून कितने ही अच्छे क्यों न हों, पर उन्हें कार्यान्वित करने वाली प्रतिभाएँ यदि ओछी रहीं तो सब गुड़-गोबर हो जाएगा। धर्म एक बहुत ऊँचा तथ्य था, उस क्षेत्र में घुस पड़ने वाली दुरात्माओं ने उस जीवन दर्शन की कितनी दुर्गति कर डाली कि रोना आता है। ठीक इसी प्रकार समाजवाद, गांधीवाद आदि के नारे कितने ही अच्छे क्यों न हों, उन्हें कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व जिन लोगों पर है, वे यदि घटिया स्तर के होंगे तो उनके द्वारा डाले गये हर काम में घटियापन आ जाएगा और राजसत्ता जनता की सुख-सुविधा बढ़ाने वाली न रहकर विपत्ति ही बढ़ाती चली जाएगी।

राजनीति में धूर्तता आवश्यक है। यह मान्यता सर्वथा गलत है। शत्रु से युद्ध करते समय अथवा चोरों का पता लगाते समय इस तरह की चतुरता कभी अपवाद या आपत्ति धर्म की तरह बरती भी जा सकती है। पर परस्पर सहयोग एवं जन-सेवा के क्षेत्र में राजतंत्र को धर्म-तंत्र से भी अधिक निर्मल, निःस्वार्थ एवं उदात्त होना चाहिए। यदि चुनाव की वर्तमान अति खर्चीली और अतिधूर्तता पूर्ण दाव-पेंचों के साथ ही सफल हो सकने वाली पद्धति बनी रही और उसमें केवल अति कुशल लोगों को ही चुने जाने का अवसर मिलता रहा, तो उन लोगों द्वारा नियुक्त सरकार आदर्शवाद के सिद्धांतों पर खड़ी न रह सकेगी। हर किसी को जब अपना वोटर खुश करने की और अपनी स्थिति मजबूत बनाये रखने की बात प्रधान लगेगी तो उसे दबाव में ही काम करना पड़ेगा। उस दबाव में आधे से अधिक काम अनुचित होने संभव हैं। आज यही हो भी रहा है। राजनेता अपनी स्थिति सँभालने-सुधारने में जितने प्रयत्नशील

हैं, उसका आधा मनोयोग भी वे जन-समस्याओं को सुलझाने में लगा सके होते, तो न जाने आज का जन-जीवन कितना सुविकसित और समुन्नत हो गया होता ?

यहाँ दोष किसी व्यक्ति या कार्यक्रम के नहीं बताये जा रहे। कहा यह जा रहा है कि राजसत्ता में काम करने वाली प्रतिभाओं को संतों जैसे चरित्र और आदर्श से ओत-प्रोत होना चाहिए। राजनीति को लोक-निर्माण का महत्त्वपूर्ण साधन माना जाना चाहिए और उसे सुव्यवस्थित रखने के लिए ऐसी प्रतिभाओं को इसके संचालन का अवसर मिलना चाहिए, जो इस पवित्र प्रयोजन को प्रखरतापूर्वक निभा सकने में पूर्णतया सुयोग्य एवं समर्थ हों। इसके लिए चुनाव पद्धति में परिवर्तन से लेकर वोटरों को प्रशिक्षित करने तक राजतंत्र हाथ में लेने वालों की पात्रता निर्धारित करने से लेकर राजकर्मचारियों की नियुक्ति तक ऐसे आधार बनने चाहिए, जिससे वहाँ भ्रष्ट तत्त्व की पहुँच न हो सके। राजसत्ता को सँभालने में लगी हुई प्रतिभाएँ अति निर्मल और अति उज्ज्वल हों—इसके लिए प्रबल और तीखा लोकमत जाग्रत् होना चाहिए। वह प्रखरता ऐसी समर्थ हो कि किसी रंगे सियार को क्षणभर भी वहाँ टिक सकना संभव न रहे।

एक प्रतिभा और भी ऐसी है जिसने उपरोक्त सभी अन्य विभूतियों से अग्रिम पंक्ति में अपना स्थान बना लिया है। उसका नाम है धन। इन दिनों धन का वर्चस्व अत्यधिक है। सारी कलाएँ उससे हेटी पड़ गई हैं और लगभग सभी ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली है। धन का प्रलोभन देकर गायक, वादक, चित्रकार, अभिनेता, कवि, साहित्यकार, पत्रकार, धर्मगुरु, राजनेता सभी अपने वश में किये जा सकते हैं और उन्हें कठपुतली की तरह बनाया जा सकता है अथवा यों कहना चाहिए कि सभी कलाएँ धन की कृपा-कटाक्ष प्राप्त करने के लिए अपना शील सतीत्व बेचने के लिए लालायित फिर रहीं हैं। प्रतिभाएँ धन के द्वारा खरीदी जा रहीं है और वे खुशी-खुशी अपना समर्पण करके उसकी इच्छानुसार नाचने के लिए बाजारू वेश्या की तरह अपना साज-शृंगार सजाये

बैठी हैं। जिन्होंने प्रलोभन के आगे झुककर कुमार्ग पर चलने और कुकर्म करने से इनकार कर दिया हो—ऐसे कलाकार इस अंधेरी अमा में दीपक लेकर तलाश करने पड़ेंगे। गरीब गाँव की सती-साध्वी शीलवती को सामान्य ग्रामीणों की तरह रूखा-सूखा खाकर और फटा-टूटा पहनकर संतोष करना पड़ेगा, पर जो नव-यौवना शृंगार सजाने, बहुमूल्य वस्त्राभूषण पाने, सौंदर्य प्रसाधन जुटाने और ऐश आराम के गुलछर्रे उड़ाने को मचल रही हो—उसे अपना शील, सतीत्व बेचने से कम पर यह उपलब्धियाँ नहीं मिल सकतीं। लगता है आज अपने गाँव की सभी नव-यौवनाएँ वेश्यावृत्ति पर उतर आई हैं। कला को विलास चाहिए। तपस्विनी का वेष किसी को पसंद नहीं। ऐसी दशा में धन तो चाहिए, वैसा ही आचरण उन्हें करना होगा, इतना ही नहीं अपनी ओर से ऐसा विद्रूप अभिनय करना पड़ेगा, जिससे धन का लंपट देवता उसी पर आसक्त-अनुरक्त हो जाए।

कला साक्षात् सरस्वती है, वह मानवता की आदि जननी है। माता को कोई पुत्र वेश्यालय में भर्ती करा दे और उसकी प्राप्त जीविका से मूँछों पर ताव देते हुए गुलछर्रे उड़ाये, तो यह उसके लिए निर्लज्ज, नीचता ही कही जाएगी। कलाकार ने आज अपने को इसी ओछे स्तर पर ला खड़ा किया है। वह पूँजी बटोरने वालों का जरखरीद गुलाम बना हुआ है अथवा स्वयं अमीर बन जाने के फेर में है। हमारा आज का सिनेमा गायन, वाद्य, अभिनय, चित्र, साहित्य, कवित्व, महंत, शासक बाहर से कुछ भी कलेवर ओढ़े बैठा हो भीतर से इसी दुर्गति का प्रमाण बना बैठा है। यदि ऐसा न हो तो कला ने अपने बलबूते पर विगत ५० वर्षों में भारतीय जनता का स्तर आकाश छूने जैसा ऊँचा उठा दिया होता। बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक क्रांति—जिनके बिना राजनैतिक क्रांति सर्वथा अधूरी बनी पड़ी है—कब की सफल हो गई होती।

धन की प्रतिभा को लोभ, परिग्रह और कृपणता के बंधनों से छुड़ाना होगा। धनी भी एक कलाकार है। भले ही वह कलाकारिता

उचित हो या अनुचित, पर उसे स्वीकार तो करना ही पड़ेगा। जिन दिनों ६० प्रतिशत लोग जीवन निर्वाह की मूलभूत आवश्यकता जुटाने के लिए दैनिक आवश्यकता भर पूरी नहीं कर पाते, उन दिनों किसी का धनी, अमीर, मालदार बन जाना सचमुच किसी विलक्षण व्यक्ति का ही काम है। अधिक उपार्जन की क्षमता समझ में आती है, पर जिन दिनों दशों दिशाएँ अज्ञान, अभाव और अशक्ति की पीड़ा से बुरी तरह कराह रही हों, उन दिनों लोक-मंगल की आवश्यकताओं से आँखें मींचकर जो अर्थ संग्रह कर सकता है, अमीरी और अय्याशी जुटा सकता है, उसे पत्थर के कलेजे वाला आदमी ही कहा जाएगा। घोर अनुदार, परम कृपण और स्वार्थांध के लिए ही यह स्थिति प्राप्त कर सकना संभव है। सो इन विशेषताओं से संपन्न धनी व्यक्ति को महापुरुष जैसा सफल जीवन तो नहीं, विलक्षण जरूर कहा जाएगा। यह विलक्षणता 'कला' नहीं, तो और क्या है ? धनी भी कलाकारों की अग्रिम पंक्ति में खड़ा है, उसे पीछे कौन धकेले ?

इस अग्रिम पंक्ति में खड़ी प्रतिभा को कुमार्गगामी नहीं होने दिया जाना चाहिए। उसे अति नम्रतापूर्वक समझाया जाना चाहिए कि अन्य कलाओं की तरह संपन्नता भी एक परम पवित्र विभूति है और इसका उपयोग लोक-मंगल कें लिए ही होना चाहिए। कमाये कोई कितना ही पर अपने और अपने परिवार के लिए खर्च भारतीय जनता के औसत स्तर का ध्यान रखकर ही करे। बचत को उदारतापूर्वक उन कार्यों के लिए देता रहे, जिनके अभाव में मानवीय प्रगति रुकी पड़ी है। समय-समय पर सर्वमेध करके अपना सारा कोष लोक-मंगल के लिए दे डालने वाले प्राचीन काल के श्रीमंतों का उदाहरण उन्हें बताया जाना चाहिए और भामाशाह का आदर्श अपनाकर अपनी कला को सार्थक सिद्ध करने का अनुरोध करना चाहिए।

उसे कहना चाहिए कि अमीरी और विलासिता का ठाट-बाट वाला जीवन अब अगले दिनों प्रशंसा या प्रतिष्ठा का आधार नहीं रहेगा, वरन् जनता का रोष ही उभरेगा। बिना बेईमानी के कमाया

हुआ ही सही, पर जो पीड़ित मानवता की कराह को अनसुनी कर निष्ठुरता और कृपणता के साथ जो जमा कर रखा है, वह अवांछनीय ही कहा जाएगा। अगले दिनों ऐसे संग्रही-जनता की अदालत में अपराधियों की तरह खड़े किये जाने वाले हैं, आध्यात्मिकता और धार्मिकता तो अनादि काल से परिग्रह को, संग्रह को पाँच प्रधान पातकों में गिनती रही है। अब समाज की भावनाएँ भी उस संबंध में अधिक उग्र हो चली हैं। उसने धनी को संपन्न मानने की अपेक्षा अधिक दुराचारी मानना आरंभ किया है और अगले ही दिनों समाजवाद-साम्यवाद की उँगलियाँ गले तक डालकर जो खाया है, उसे उगलवा लेने की तैयारी कर रही है। इस वस्तुस्थिति को समझना चाहिए और उस प्रतिक्रिया से डरना चाहिए। रूस, चीन एवं अन्य समाजवादी देशों में धनियों का बड़ा उत्पीड़न और तिरस्कार हुआ है। देर-सबेर सारे संसार में वही होने वाला है। शंकर जी को बेल पत्र, गंगाजी को दूध और हनुमान जी को प्रसाद, महंतजी को मालपुए खिलाकर अब किसी को ईश्वरीय सहायता की आशा नहीं करनी चाहिए और लंबी माला सटकाने वाले, रोज गंगाजल पीने वाले को अपनी धार्मिकता की दुहाई अब नहीं देनी चाहिए, क्योंकि इसे घड़ियाल के आँसू भर माना जाएगा। अधिक उपार्जन कर सकने वाले कलाकार की सदाशयता केवल इस कसौटी पर कसी जाएगी कि उसने व्यक्तिगत उपयोग के लिए न्यूनतम अंश लेकर शेष को लोक-मंगल के लिए उदारतापूर्वक दिया या नहीं। राजाओं के राज, जमींदारों की जमींदारी जा चुकी अब अमीरों की अमीरी जाने को तैयार बैठी है। सरकारी टैक्सों की दर दिन-दिन बढ़ रही है। इनकम टैक्स, सुपर टैक्स, संपत्ति टैक्स, मृत्यु टैक्स आदि की कैंची तेजी से चल रही है, कुछ दिन बाद इन झंझटों में व्यर्थ सिर फोड़ी से बचने के लिए समाज सीधे व्यक्ति की निजी संपदा पर कब्जा कर लेगा। यह एक कड़ुवी किंतु सुनिश्चित सच्चाई है। इसलिए हर धनवंत कलाकार को पूर्व चेतावनी-नेक सलाह दी जानी चाहिए, कि वह बेटे-पोतों के लिए

दौलत जमा न करे। अमीरी का ठाट-बाट न जुटाए। सोने-चाँदी की सलाखें जमीन में न गाड़े और तिजोरियाँ भरने के फेर में न रहें। इस व्यर्थ प्रयास में उसे सुख नहीं—दुःख ही मिलेगा। इस फेर में वह प्रशंसा का नहीं—भर्त्सना का पात्र है।

बेटे-पोतों के लिए—सात पीढ़ी को बैठे-बैठे खाने के लिए दौलत जमा करते जाना उनके साथ अत्यंत दुष्टता बरतना है। हराम की कमाई किसी को दुर्गुणी और पतनोन्मुख ही बना सकती है। अपनी संतान को हरामखाऊ के घृणित स्तर पर पटकने की कुचेष्टा किसी को नहीं करनी चाहिए। उन्हें पढ़ा-लिखाकर स्वावलंबी बना देने भर की बात तो समझ में आती है, पर इस प्रक्रिया का औचित्य समझ में नहीं आता कि कमाऊ संतान के लिए आप अपनी कमाई मुफ्त के माल पर गुलछर्रे उड़ाने के लिए छोड़ जाएँ। पारिवारिक उत्तरदायित्व पूरे करने के बाद बचा हुआ हर पैसा विशुद्ध रूप से इस अभावग्रस्त समाज को मिलना चाहिए और ईमानदारी के साथ वही असली हकदार है। बेटे को बाप की कमाई मिलनी ही चाहिए, वह सामंतवादी अर्थभ्रष्टता संसार में से जितनी जल्दी मिट जाए, उतना ही अच्छा है। इस कृपणता ने मानव समाज का भारी अहित किया है। बेटों ने बूढ़े बाप से जल्दी दौलत छीनने के लिए बुरी तरह सताया है। बाप ने शुभ कर्म में बेटे के डर से लुक-छुप के ही कुछ खर्च किया है। बेटियों तक को कुछ देते समय बड़ी झिझक संकोच से काम लिया है। यह बेटावाद पिछले दिनों के समाजवाद, पूँजीवाद, आतंकवाद आदि सब भर्त्सनीयवादों से बढ़कर गर्हित है। इसे मिटाना ही चाहिए। हर धनी को यह कहा जाना चाहिए कि उसकी कमाई में केवल बेटा ही नहीं—समाज भी हकदार है। संकीर्णता यदि इस हक को मारती रही तो उसे अगले दिनों इतना अधिक प्रताड़ित किया जाएगा कि उस उत्पीड़न से बचाने को किसी की सहानुभूति न रहेगी। बेटे भी अपने संकीर्णताग्रस्त बाप की हराम की कमाई खाकर अपने को 'हरामी' कहे जाने की गाली से ही तिरस्कृत होते पाएँगे। इसलिए

उनके लिए भी यही उचित है कि बापों को उदार आचरण करने की सलाह दें और धन कमाने की कलाकारिता का ऐसे संकीर्ण एवं निंदनीय अंत होने से रोकें।

राणा प्रताप को धन के बिना भारतीय स्वाधीनता की रक्षा करना असंभव, देखा तो भामाशाह आगे बढ़कर आये। आज मानव-जाति की बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक स्वतंत्रता की रक्षा और प्रतिष्ठा करने के लिए फिर पैसे की जरूरत है। विचार क्रांति का रथ साधनों के अभाव में रुका खड़ा है। ज्ञान-यज्ञ की ज्वाला समिधाओं के अभाव में प्रज्वलित होने का अवसर प्राप्त नहीं कर रही है। सामाजिक कुरीतियों की फाँसी घर के कैदी की तरह समाज जकड़े पड़ा है। इन कुत्साओं और कुंठाओं के विरुद्ध धर्म युद्ध की भेरी तो बज गई, पर कारतूस खरीदने को पैसा नहीं। सो हर जिंदा-दिल धनी का हर फालतू पैसा इसी प्रयोजन के लिए लगना चाहिए, युग ने, भगवान् ने धनवंत कलाकारों को इसके लिए पुकारा है। वे अनसुनी कर भी रहे हैं और करेंगे भी, पर गाँठ यह भी बाँध रखा जाए कि इस प्रकार 'बचाये रखने' की चतुरता उन्हें आज की उदारता की तुलना में अत्यधिक महँगी और अत्यधिक कष्टकारक सिद्ध होगी। कैसे? इस प्रश्न का उत्तर निकटवर्ती समय ऐसी अच्छी तरह देगा, जिसका कभी विस्मरण न किया जा सके।

कला, कला के लिए—लोक-मंगल के लिए नियोजित की जानी चाहिए। प्रतिभाएँ स्वार्थांध होकर उच्छृंखल आचरण नहीं करती रहनी चाहिए। उन पर नियंत्रण होना चाहिए। ऐसे कलाकार आगे आने चाहिए, जो कला एवं प्रतिभा का सही उपयोग क्या हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करें, जो लोक रुचि को बदलने की महत्त्वपूर्ण भूमिका संपादित करें। कुमार्गगामी प्रतिभाओं की खुली और कडुवी भर्त्सना आज से ही आरंभ कर देनी चाहिए, ताकि उन्हें अपने रवैये के बारे में नये सिरे से सोचने की मजबूरी प्रतीत होने लगे।

❐ ❐

# प्रतिभाएँ आगे आएँ और कमान सँभालें

बड़े प्रयोजन पूरे करने के लिए बड़ी क्षमतासंपन्न प्रतिभाओं की जरूरत पड़ती है। युद्ध जीतने के लिए सुलझे हुए राजनेता, जनमानस परिष्कार के लिए तपस्वी-अध्यात्मवादी, समाज-निर्माण के लिए समर्थ लोकसेवियों की जरूरत पड़ती है। हर क्षेत्र में अभीष्ट प्रगति के लिए प्रतिभाओं की जरूरत पड़ती है। भारतीय स्वाधीनता का रथ जो हजार वर्षों से कीचड़ में फँसा पड़ा था। प्रतिभाशाली राजनेताओं ने आसानी से आगे धकेलकर निकाल दिया। मानवीय स्तर में बुरी तरह समाई हुई वर्तमान निकृष्टता का उन्मूलन कर उसके स्थान पर उत्कृष्टता की प्रतिष्ठापना करना—सो भी समस्त विश्व के व्यापक क्षेत्र में यह एक बहुत बड़ा कार्य है, इतना बड़ा जितना बड़ा आज तक कभी भी संपन्न नहीं हुआ।

भूतकाल में यातायात के साधन सीमित रहने से समस्याओं, व्यवस्थाओं और प्रतिभाओं का कार्य-क्षेत्र भी सीमित रहता था। रावण, कंस, जरासंध आदि की दुष्टता का प्रभाव और उसके प्रतिरोध का प्रयत्न एक सीमित क्षेत्र के अंतर्गत ही संपन्न हुआ था। दस या चौबीस अवतार बहुत करके भारत में ही हुए और उनका क्रियाकलाप लगभग उतने ही क्षेत्र में गतिवान् बना रहा। आज स्थिति बदल गई है। विज्ञान ने अब सारी धरती को एक नगर प्रदेश के रूप में सघन और संबद्ध कर दिया है। अब संसार का एक सिरा दूसरे को प्रभावित किये बिना नहीं रहता। इसलिए हर समस्या पर अब व्यापक दृष्टि से विचार करना होता है और जनमानस के नव-निर्माण जैसे अभियान पर विश्वव्यापी क्षेत्र का ध्यान रखना होता है। एक धर्म, एक समाज या एक देश की सीमा तक सीमित रहने भर से कुछ स्थिर प्रयोजन सिद्ध न होगा। एक देश या समाज में यदि विकृतियाँ घुसी बैठी रहें तो वे फिर उन्हें गंदा कर देंगी, जिन्हें प्रयत्नपूर्वक स्वच्छ किया गया था।

जनमानस आज जितना उलझा हुआ, विकृत और उद्दंड हो चला है, उतना पहले कभी नहीं हुआ। नास्तिकवाद को, अनात्मवाद को इन दिनों वैज्ञानिक समर्थन मिला है। विज्ञान की धाक भी काफी है, इसलिए असुरता के छिपे संस्कारों को नास्तिकता का वैज्ञानिक समर्थन मिल जाने से 'नीम और गिलोय मिलन' की कहावत चरितार्थ हो गई। नास्तिकता द्वारा समर्थित भोगवाद, उच्छृंखलतावाद, हिप्पीवाद अब एक प्रतिपाद्य विषय बन गये हैं। पहले लुक-छिपकर सकुचते-झिझकते ही ऐसा सोचते या आचरण करते थे, अब उस अवांछनीय उद्दंडता का समर्थन प्रगतिशीलता के नाम पर तर्क और प्रमाणों सहित होता है। दुराचरण का अभ्यास भी बहुत दिन से हो रहा है, अब वह लगभग आदत का अंग बन चला है। इन विकृतियों का समर्थन और पोषण कला एवं प्रतिभाएँ खुल्लम-खुल्ला कर रही हैं। इससे स्थिति की जटिलता और विषमता की गहराई का आसानी से अनुमान लग जाता है। इस अवांछनीयता का उन्मूलन और मानवीय आदर्शों का पुनः प्रतिष्ठापन—सो भी विश्वव्यापी क्षेत्र में—निस्संदेह एक बहुत बड़ा और बहुत कठिन काम है। संसार अनेक भाषाओं, अनेक जातियों, अनेक सभ्यताओं, अनेक धर्मों और अनेक शासन तंत्रों में बिखरा पड़ा है। उन क्षेत्रों में उसी ढंग से, उसी माध्यम से, वैसी ही रीति-नीति अपनाकर सुधार कार्य आरंभ करने होंगे। इसके लिए इतनी बड़ी योजना बनानी पड़ेगी और इतनी बड़ी तैयारी करनी होंगी, जितनी कि आज तक कभी भी किसी योजना के अंतर्गत नहीं की गई।

आज विचार क्रांति एक छोटी चिनगारी के रूप में है, पर अगले ही दिनों इसे अति विशालकाय दावानल का रूप धारण करना है और सड़े हुए कूड़े-करकट को जलाकर भस्म करना है। नये उद्यान का बीजारोपण करने के लिए इस प्रकार का संपर्क अभियान आवश्यक भी है। पर इतना एकांकी प्रयत्न भी तो काफी नहीं, हमें सृजन का काम भी करना है और घनघोर घटाओं की

तरह सद्भावनाओं की मूसलाधार वर्षा भी करनी है। विनाश और विकास के ध्वंसात्मक और रचनात्मक उभयपक्षी कार्यक्रम एक साथ लेकर चलने से, सो भी इतने बड़े परिणाम एवं क्षेत्र में निस्संदेह एक बड़ा काम है। पर जो ईश्वर की इच्छा और युग की आवश्यकता है, उसे तो पूरा किया ही जाएगा।

इस ऐतिहासिक युग—आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें प्रतिभाओं की जरूरत पड़ेगी, जो अग्रिम पंक्ति में खड़ी होकर जन-साधारण का नेतृत्व कर सकें। यह प्रतिभाएँ एक तो इस तरह प्राप्त हो सकती हैं कि जो कुपथगामी हो रही हैं, उन्हें अनुरोधपूर्वक अथवा विवश करके वापस लौटाया जाए और इस महान् प्रयोजन में नियोजित कर दिया जाए। दूसरा उपाय यह है कि नई प्रतिभाएँ सामान्य जनता में से ही उगाई, बढ़ाई और प्रशिक्षित की जाएँ। प्रयत्न दोनों ही जारी रहने चाहिए, पर जिनकी दाढ़ में खून का चस्का लग चुका है, उन्हें विरक्त करना बड़ा कठिन है। नारद जी उन दिनों के असंख्य डाकुओं में से एक वाल्मीकि को उबार सके और बुद्ध को असंख्य वेश्याओं में से एक अंबपाली को बदलने में सफलता मिली थी। बाकी सब तो एक महान् सुधारकों के प्रयत्नों पर पानी फेरते हुए अपनी धंधे में ही लगे रहे। आज की कला और प्रतिभा कुछ ऐसी ही विकृत हो गई है, जिसे सुधारने के प्रयत्न छोड़ने तो नहीं चाहिए, पर उनके भरोसे सिर भी नहीं भिगोना चाहिए। वे सुधरे नहीं तो कम से कम उनकी विघातक दिशा कुंठित हो जाए, वे भर्त्सना और असहयोग की जंजीरों से जकड़े जाकर दुस्साहस करते चलने से बाज आएँ, तो भी कम सफलता नहीं है। रावण मरे, राम-राज्य को फैलने का अवसर मिले। हम आज की विकृत कला और प्रतिभा के सुधार से निराश तो नहीं, प्रयत्न तो न छोड़ें, पर बहुत आशा भी न करें। वे रुक भर जाए तो काफी है। सुधर और बदल जाए तब तो कहना ही क्या ?

अपनी तैयारी यह सोचकर करनी है कि हमें ऐसी मूर्धन्य प्रतिभाएँ अपने भीतर से, अपने लोगों में से उत्पन्न करनी हैं, जो

अपने अतिव्यापक और अति महान् प्रयोजन का नेतृत्व कर सकने में आवश्यक शौर्य, साहस एवं पराक्रम दिखा सकें। कठिनाई यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र में—सेवाकार्य, सफलतापूर्वक काम कर सकने वाले व्यक्ति मिलते नहीं। यश के लालची, पैसे के लोभी, प्रभुता चाहने वाले उद्दंड, अहंकार-स्वार्थी और छोटी तबियत के लोग आदि, जन-सेवा में भावुकतावश अथवा बेकारी दूर करने के लिए आ घुसते हैं। आंतरिक महानता न होने से थोड़े ही दिन में उनका ओछापन उभरता है और फिर वह अपनी दुर्गंध से उस क्षेत्र को गंदा कर देता है। आज हर संस्था अपने कार्यकर्ताओं के ओछेपन के कारण ही मर रही है—जनता के असहयोग से नहीं। कार्यकर्ताओं के ओछेपन से ही संगठन और आंदोलन नष्ट-भ्रष्ट हुए हैं। इस अनुभव को आगे रखते हुए हमें फूँक-फूँककर कदम बढ़ाना होगा और धैर्यपूर्वक ऐसी प्रतिभाओं का, ऐसी नावों का निर्माण करना होगा, जो स्वयं डूबने के साथ-साथ अन्य असंख्यों को डुबोने का, नाव की उपयोगिता संदिग्ध बनाने का खतरा उत्पन्न न करे।

प्रतिभाएँ चारों ओर भरी पड़ी हैं। उनका अभाव नहीं। जेलखानों में जाकर देखा जाए तो एक से एक बढ़कर विलक्षण प्रतिभाएँ वहाँ विराजमान मिलेंगी। बाहर भी जो शोषण, छल, अनाचार, विग्रह बढ़ रहा है, उसके मूल में भी प्रतिभाएँ काम कर रही हैं। नव-निर्माण भी प्रतिभाओं की कमी से रुका पड़ा है। आवश्यक है कि हम नई प्रतिभाएँ खोजें और उनको आगे बढ़ाकर विश्व-निर्माण के मोर्चे की पंक्ति में लाकर खड़ा करें।

जिन्हें पैसा और पद की, वाहवाही और प्रशंसा पाने की उग्र लालसा हो, वे सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। वे इधर आते हों तो रोक देना चाहिए; जो घुस पड़े हैं, उन्हें वापस लौटा देना चाहिए। अपना प्रभुत्व चाहने वाले, अपना सम्मान औरों से अधिक पाने की लालसा जिनके मन में घुस गई हो, वे कुछ ही

दिनों में अपना प्रभाव खोयेंगे और इस दुरभिसंधि की पूर्ति तो कर नहीं सकेंगे—उल्टे संगठन को नष्ट करेंगे। भावनात्मक नव-निर्माण क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए केवल उन्हीं के लिए द्वार खुले हैं, जो किसी प्रकार पेट भरने और तन ढकने भर से संतुष्ट रह सकें। वह आवश्यकता भी भारत के औसत नागरिक से घटिया दर्जे की रहे। गांधी जी निर्धन देश के नागरिकों के पास तन ढकने के लिए पूरा कपड़ा न होने की स्थिति समझते हुए आधी धोती पहनने और आधी ओढ़ने भर से काम चलाकर अपनी नेक नीयत का परिचय देते थे। सच्चे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को ऋषियों का आदर्श ध्यान में रखना होगा। वे समर्थ होते हुए भी अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ न्यूनतम रखते थे। इस कसौटी पर जो खरा सिद्ध होगा, अपने खर्च को न्यूनतम बिंदु तक सीमित करेगा और कम से कम पैसे में गुजारा करने को तैयार होगा, उसी को अंत तक सही बने रहने में सफलता मिलेगी। खर्चीली और विलासी तबियत के व्यक्ति पैसे की हविस पर नियंत्रण न कर सकेंगे और प्रत्यक्ष या परोक्ष बेईमानी पर उतर आएँगे। चाणक्य, वशिष्ठ आदि राजगुरु थे। उनका नेतृत्व बड़ा प्रखर था। पर स्वेच्छा से वरण की गई गरीबी उनकी विशेषता थी। उच्च विचार केवल सादे जीवन पर ही अवलंबित हैं। ठाट-बाट बनाने के लिए आतुरता हमारे राजनेताओं से क्या-क्या नहीं करा रही है ? हर कलाकार और हर प्रतिभा को इसी कमजोरी ने पतित किया है। इसलिए युग निर्माण योजना के नेतृत्व में जिन्हें पूरा समय देकर नेतृत्व की बागडोर सँभालनी हो उन्हें सबसे प्रथम अपनी व्यक्तिगत अर्थ-आकांक्षाओं को कुचल-मसलकर फेंक देना चाहिए और सादगी की साधुता सच्चे मन से स्वीकार करनी चाहिए।

दूसरी कसौटी यश-लिप्सा, पद, वर्चस्व, अधिकार, पूजा, प्रतिष्ठा की आकांक्षा से सर्वथा विरत एवं उदासीन हो जाने की है। जो अपना जुलूस निकलवाने, माला पहनने, पैर पुजाने, नाम छपाने

को उत्सुक दिखाई पड़े, समझना चाहिए यह पूरा खतरा है। भले-चंगे संगठन के लिए वह ईर्ष्या-द्वेष का अखाड़ा बनाएगा, पार्टी बनाएगा, साथियों को गिराने, बदनाम करने और अपने को अच्छा सिद्ध करने के विविध-विध षड्यंत्र रचेगा और भी न जाने क्या-क्या करेगा ? उसकी चालाकी आखिर हर एक की समझ में आ जाएगी। इसलिए दूसरे भी या तो अनुकरण करेंगे या फिर उसे गिरायेंगे। अपना नाम छपा लेने से दूसरे साथी निराश होंगे या द्वेष करेंगे। संयोगवश कभी कुछ ऐसा अनायास हो जाए, यह बात दूसरी है, पर इस क्षेत्र में काम करने वाले के मन में यह विष किसी भी कोने में नहीं छिपा रहना चाहिए। उसे वित्तैषणा की तरह लोकैषणा के खतरे से भी बचना चाहिए। श्रेय व्यक्तियों को नहीं, मिशन को मिले। आवश्यकता हो तो वह श्रेय आदि संचालक को मिल सकता है। व्यास जी पुराणों के आदिकर्ता थे। यों १८ पुराण और १८ उपपुराण विभिन्न समयों में, विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं, पर उन सब लेखकों ने अपना श्रेय न चाहकर आदि आरंभकर्ता व्यास के नाम से ही पुराणकर्ता की यश-श्री आगे बढ़ने दी।

सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करने वाले को विशुद्ध रूप से एक अति नम्र छोटा स्वयं सेवक बनकर आना चाहिए और किसी काम या पद पर अपनी प्रभुता जमाने की अपेक्षा छोटे से छोटा घटिया से घटिया काम करने में पूरा प्रसन्न रहना चाहिए। "मैं अधिक योग्य हूँ, इसलिए अधिक सम्मान या श्रेय पाने का हक मेरा है।" यह माँग करते ही लोकसेवी अपने कमीनेपन की निर्लज्ज घोषणा कर देता है और बाधित करता है कि उसे जनमानस—निर्माण जैसे महान् कार्य में महत्त्वपूर्ण पद सौंपने की अपेक्षा उसे लात मारकर नहीं, तो कान पकड़कर अवश्य बाहर कर देना चाहिए। अहंकार और सत्ता की प्रशंसा और प्रतिष्ठा का यह लोभ इतना घटिया है कि उसके रहते कोई प्रतिभा केवल घिनौनी ही बनी रहेगी और उसका

उपयोग आरंभ में भले ही लाभदायक हो, अंत में हानिकारक सिद्ध होगा।

किसी को पद या सम्मान का लोभ देकर पैसा या सहयोग प्राप्त करना आरंभ में ही लाभदायक दीखता है। अंत में उससे बड़ी हानि होती है। दान पाने की लालसा से किसी भी उल्लू को सभापति की, उद्घाटनकर्ता की कुर्सी पर बिठा देना ओछे दर्जे का हथकंडा है। नाम का पत्थर लगाने का लोभ देकर किसी से संस्था के कमरे बनाने के लिए पैसा नहीं लेना चाहिए। अपना फोटो या नाम छपाने की जिसे आतुरता हो, उसे जान-बूझकर निरुत्साहित करना चाहिए। इससे भले ही आरंभिक लाभ से वंचित रहना पड़े, पर अंततः बहुत लाभ होगा। निःस्वार्थ, निस्पृह, विनम्र, सज्जन और नींव के पत्थर बनने में संतुष्ट-विनम्र व्यक्ति ही महापुरुषों की भूमिका संपादित कर सकते हैं। नव-निर्माण जैसे महान् प्रयोजन के लिए इससे कम उत्कृष्टता का व्यक्ति एक कदम भी उपयोगी सिद्ध न होगा।

जिन्हें इन दो आदर्शों से सच्चाई के साथ सहमत कराया जा सके, उन प्रतिभाओं को नव-निर्माण आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए आगे लाया जाना चाहिए। यों हम सब मिलकर सामान्य स्तर के लोग भी बहुत कुछ करेंगे। दिवाली की अंधेरी रात में जब सूर्य और चंद्रमा दोनों ही प्रकाश देने से इनकार कर रहे थे, तब छोटे-छोटे मिट्टी के दीपकों ने मिलकर महान् उत्तरदायित्व अपने ऊपर उठाया था और वह निबिड़ अंधकार से घिरी दिशा जगमग करने लगी थी। वह इतिहास पर्व, दीपावली का दीप पर्व हर वर्ष आता है और जन साधारण को यह संदेश देता है कि प्रतिभाएँ यदि अपने उत्तरदायित्व से इनकार करें, तो भी हताश होने की जरूरत नहीं है। छोटे व्यक्तित्व मिलकर भी अंधेरे में उजाला उत्पन्न कर सकते हैं, तो हमें प्रतिभाओं की खोज जारी रखनी चाहिए। उनकी उपयोगिता एवं आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। आरंभ में प्रशंसा को थोड़ा प्रोत्साहन भी दिया जा सकता है।

सत्कार्यों का अभिनंदन छुट-पुट सेवा कार्य करने वाले को पुरष्कार आदि का क्रम तो चल सकता है। मंदिरों में लोगों को दर्शन के लिए आने का आकर्षण प्रसाद का प्रलोभन देकर उत्पन्न किया जाता है, पर जैसे ही भक्ति का महत्त्व समझ लिया जाए, निष्काम उपासना पर जोर दिया जाता है। नये लोगों को प्रशंसा का प्रोत्साहन देना उचित हो सकता है, पर जैसे ही कोई प्रतिभा नव निर्माण का मोर्चा सँभालने के लिए अग्रसर होती दिखाई पड़े, उसे तुरंत निस्पृह होने के लिए वित्तैषणा और लोकैषणा से विरत होने के लिए कहना चाहिए, क्योंकि इस भावनात्मक त्याग के बिना उसकी उपयोगिता निखरेगी नहीं और उज्ज्वल आशाएँ गुड़-गोबर बन जाएँगी।

हमें नये कलाकार उत्पन्न करने चाहिए। ऐसे चित्रकार जो मनुष्य की कोमल भावनाओं को उभारने वाले सात्त्विकता एवं उदात्त अभिव्यंजना मूर्तिमान् कर सकें—युग-निर्माण की सेवा में भर्ती होने चाहिए। ऐसे चित्र प्रकाशक जो नारी को कुत्सित, घृणित, विषाक्त, अश्लील रूप में प्रस्तुत न करने की शपथ लें और केवल सुरुचि जगाने वाली तस्वीरें ही प्रस्तुत करें—युग की आवश्यकता पूर्ण कर सकेंगे।

ऐसे साहित्यकार और कवियों को मानवता ने पुकारा है, जिनकी लेखनी सृजन एवं कल्पना ने कसम खाई हो कि पशुता को उभारने और मनुष्यता को गिराने के लिए कलम को एक अक्षर भी न लिखने देंगे। सामाजिक और मानसिक परतंत्रताओं के बंधनों से बँधी हुई अनैतिकता के अभ्यस्त आज की कुत्सित विचारणा के प्रति कविता केवल विद्रोह के स्वर गाएँ, लेखनी केवल आग उगलें, तो अज्ञान की आसुरी लंका जलाकर खाक की जा सकती है। नये युग का निर्माण ईंट-चूने से नहीं लोक-चिंतन की दिशा बदलने से ही होगा। यह कार्य लेखक, कवि और प्रकाशक की त्रिमूर्ति मिलकर ही करेगी। पूँजी को ऐसे प्रखर प्रकाशन के लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए, जो नव युग की, नई पीढ़ी की बौद्धिक भूख को

बुझाने के लिए स्वस्थ एवं पौष्टिक आहार सर्वसुलभ कर सके। पुस्तक विक्रेता अपने व्यवसाय को धर्म-पुरोहितों जैसा पवित्र माने और केवल परखा हुआ, चुना हुआ साहित्य ही बेचें। पुस्तक-प्रकाशकों का संघ कसम खाये कि हम लोग जनमानस को विकृत करने वाला, अंध विश्वास, अनाचार एवं कुत्सा भड़काने वाला साहित्य नहीं छापेंगे। पुस्तक-विक्रेताओं की पंचायत फैसला करे कि गो मांस की तरह पतनोन्मुख साहित्य बेचकर भ्रष्ट कमाई करने की अपेक्षा भूखे सो जाना या घास बेचकर पेट भरना अच्छा समझेंगे। साहित्य का सृजन, प्रकाशन और विक्रय की गंगा, यमुना, सरस्वती यदि लोक-मंगल की दृष्टि अपना लें तो उस तीर्थराज में स्नान करके अपना कोढ़ी समाज अपना कायाकल्प करने में समर्थ हो सकता है।

गायन, वादन और अभिनय की शक्ति—संस्था सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा का रूप धारण करके जनमानस में नंदन वन का सृजन कर सकती हैं। आज तीनों ने कामुकता, अश्लीलता, शृंगार और वासना उभारने में अपने को केंद्रित कर रखा है। यदि यह एक सीमा तक उचित भी हो तो भी वह अनीति की सीमा में हजारों लाखों मील आगे जा चुका है। जो सुनाई और दिखाई पड़ता है, उसमें कामुकता भड़काने वाले तत्त्वों के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं है; जो गाता है कामुक, जो बजाता है कामुक, जो लिखता है कामुक। जनमानस की पशुता को उभारकर सस्ती वाहवाही और दौलत लेने की हविस इस क्षेत्र में आकाश-पाताल छूने की होड़ लगी हुई है। अब इस अंधी दौड़ पर प्रतिबंध लगाना चाहिए। गाये जाने के लिए शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस भी शेष हैं। वे एक कोने में पड़े सड़ रहे हैं। अब उन्हें भी सहारा मिलना चाहिए। शृंगार को कुछ समय पूर्ण विश्राम लेने दिया जाए।

स्वर और संगीत ने महायुद्धों में परास्त और त्रस्त जनता की निराशा और पीड़ा को आशा एवं सृजन में बदलने के लिए

जादू जैसा काम किया है। जापान, जर्मनी, पोलैंड, चेकोस्लेविया, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों पर पिछले दो युद्धों के बड़े घातक प्रभाव पड़े हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों ने जनता के मनोबल को तोड़ दिया होता तो उन्हें फिर सँभालने में पीढ़ियाँ लग जातीं। पर इन देशों की गायन प्रतिभाओं ने केवल घावों पर मरहम लगाने वाला सृजन गाया। वाद्य ने केवल वे स्वर बजाये, जो अंधकार में प्रकाश की किरण बिखेर सकते थे, अभिनय ने वह दिखाया, जिससे प्रभावित होकर ठंडे रक्त में नई गर्मी आ गई। अपना देश हजार वर्ष की गुलामी में एक से एक बड़े और गहरे घाव सहता चला आ रहा है, अब उसे ऐसे दीपक राग सुनाये जाने चाहिए, जिससे बुझे हुए अंतःकरण ज्योतिर्मय हो उठें। अब ऐसे मेघ-मल्हार गाये जाने चाहिए, जिससे मानवीय आदर्शों की मेघमालाएँ उभरें और अपनी घनघोर वर्षा से इस तप्त-तृषित भूमि पर सर्वत्र हरियाली उग आये। अभिनय केवल दिशा दें। कर्तव्य-पथ से विमुख हो रहे चिंतन को सृजन का नया मार्ग मिले और बौद्धिक पराधीनता और बंधनों से जकड़ी हुई विचारणा को विवेक के उन्मुक्त आकाश में विचरण करने की संभावना बढ़ चले।

कला के लिए अभी गुंजाइश है। फिल्म उद्योग में लगी हुई पूँजी और प्रतिभाएँ यदि पशुता भड़काकर जेब भरने की दुरभिसंधि से बाज न आये तो उसकी प्रतिद्वंद्विता में नया मोर्चा खड़ा किया जा सकता है। फिल्म उद्योग में सिंडीकेटी और इंडीकेटी प्रतिद्वंद्विता खड़ी की जा सके, तो हर एक को लोकप्रिय और प्रगतिशील बनने की बात सोचनी पड़ेगी। प्रगतिशील फिल्म उद्योग को जन्म दिया जाए, इसके लिए अब ठीक समय आ गया। नये कलाकार उत्पन्न किये जाएँ, सब कुछ स्वयं सेवक स्तर पर हों। पूँजीपति आगे न आयें तो सहकारिता के आधार पर उस उद्योग का सृजन किया जाए। चलते-फिरते सिनेमा खुलें और देहाती क्षेत्र में लागत खर्च निकालकर मनोरंजन के साथ-साथ सृजन की दिशा प्रदान करें।

इस कार्य के लिए आधे साइज के नये फिल्म और आधे साइज के सिनेमा भी स्कूल, कॉलेजों, मेले तथा ग्रामों में एक जीप लेकर उन देहाती क्षेत्रों में जा सकते हैं, जहाँ सिनेमा की पहुँच अभी नहीं है। सिनेमा की लोकप्रियता अब हटाई या मिटाई नहीं जा सकती। बिजली की तरह इस सस्ते मनोरंजन ने भी अपना स्थान बना लिया है। उचित यही है कि उसे विनाश के पथ से विरत कर सृजन की दिशा में संलग्न होने के लिए मोड़ा जाए। इसके लिए भ्रष्ट तस्वीरों के प्रदर्शन पर शांति जैसे सत्याग्रह कदम उठाने की बात भी सोची जा सकती है। साथ ही उनकी स्वस्थ प्रतिद्वंद्विता के लिए सस्ते किंतु सुरुचिपूर्ण चित्रों से बाजार को पाट दिया जाता है। पूँजी, व्यवस्था, अनुभव, कला, गायन, वादन और अभिनय को यदि उच्च आदर्शों के लिए आमंत्रित किया जा सके तो प्रतिभाएँ आगे आएँगी।

नाटकों को सामयिक स्तर पर नया रूप दिया जा सकता है। लगता भर है कि सिनेमा ने नाटक को मिटा दिया, पर यदि उसे सूझ-बूझ वाले मस्तिष्क फिर सँभालें, तो वे संभावनाएँ अभी भी विद्यमान हैं, जिनके आधार पर नाट्य कला को आधुनिक स्थिति के अनुरूप ढालकर पहले जैसा ही नहीं, वरन् उससे भी अधिक लोकप्रिय बनाया जा सके। रासलीला करने वाली दकियानूसी मंडलियाँ मथुरा जिले में २०० के करीब हैं और उनमें ५००० से अधिक कलाकार देश भर में जाते और अपनी जीविका कमाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अभी वह आकर्षण सर्वथा समाप्त नहीं हुआ है। यदि इस कला को नवीनतम विशेषताओं से युक्त किया जा सके तो हजारों कलाकार उनमें खप सकते हैं और यदि उनके पास प्रखरता से भरा-पूरा मिशन हो तो अवांछनीयता के विरुद्ध विद्रोह कराने और वांछनीयता को मूर्तिमान् करने में आशाजनक सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

भारत जैसे देश में धर्म-मंच का बड़ा महत्त्व है। उसे प्रतिगामी निहित स्वार्थों से छीनकर प्रगतिशील नेतृत्व में दिया जाना चाहिए।

धर्म-मंच के माध्यम से नव-निर्माण की समूची योजना का आधार यही है। पर्व-त्यौहार, जन्म-दिन, विवाह दिन, षोडश संस्कार, कला, कीर्तन, यज्ञ, धर्म सम्मेलन आदि कर्मकांडों एवं आयोजनों के माध्यम से लोक-शिक्षण की प्रतिक्रिया को प्रगतिशीलता के आधार पर क्रियान्वित करने के क्या परिणाम हो सकते हैं ? उसका अनुभव विगत २० वर्षों से करते चले आने के बाद अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि प्रगतिशील प्रतिभाएँ इस क्षेत्र में प्रवेश करने और धर्म संस्था का नेतृत्व करने के लिए तैयार हों तो गांधी जी के स्वराज्य आंदोलन से भी बड़ा आंदोलन जनमानस के परिष्कार एवं समाज सुधार का प्रयोजन पूर्ण करने के लिए खड़ा किया जा सकता है और इस युग की महती संभावना को भली प्रकार पूर्ण किया जा सकता है। धर्म और अध्यात्म का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान एवं उपयोग है। पिछले दिनों बेशक इन तत्त्वों की दुर्गति हुई है, पर यदि उन्हें उनके युद्ध स्वरूप में युग आवश्यकता के अनुरूप ढाला जा सके तो उसका चमत्कार परिणाम प्रस्तुत हो सकता है। प्रतिभाओं को स्मरण रखना चाहिए कि इस देश में राजतंत्र से भी अधिक सामर्थ्यवान् धर्म-तंत्र है। गांधी जी ने स्वतंत्रता आंदोलन में धर्म भावना का उपयोग किया है। अविवेक, अनाचार और अंध-परंपराओं की गुलामी के विरुद्ध छेड़ा जाने वाला संघर्ष भी अपने देश में इसी आधार पर सफल होगा। वस्तुस्थिति पहचानने वाली प्रतिभाएँ यदि इस क्षेत्र में आगे जा सकें तो सृजन का महान् प्रयोजन बड़ी सरलता के साथ पूरा हो सकता है।

राजनेताओं की आधी पीढ़ी बूढ़ी हो चुकी, उसने अपना भला-बुरा दौर पूरा कर लिया, पीछे देखने और कोसने में कुछ बनने वाला नहीं, अब हमें राजनीति में ऐसी प्रतिभाएँ उतारनी चाहिए, जो धूर्तता के बल पर नहीं महामानवों जैसे उच्च चरित्र और शहीदों जैसे त्याग-बलिदान का मूल्य चुकाकर जनमानस में अपने लिए श्रद्धा और सम्मान का स्थान बना सकें। ऐसी प्रतिभाएँ

यदि उत्पन्न की जा सकीं तो आज के राजकीय स्तर पर जो अँधेरा फैला हुआ है, उसे सुधारा-सँभाला जा सकेगा। अन्यथा नागनाथ बदलते और साँपनाथ आते रहेंगे, इससे न जनता को राहत मिलेगी, न राष्ट्र की समग्र प्रगति संभव होगी। हममें से कुछ को अपने व्यक्तित्वों का राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए उपयुक्त कसौटी पर खरा सिद्ध होने लायक बनाना चाहिए। प्रखर-प्रतिभाओं को इस तैयारी में देना चाहिए, ताकि समय रहते वे उपयुक्त परीक्षा दे सकने और कसौटी पर खरा सिद्ध होने की स्थिति में होकर गुजर सकें।

वर्तमान धनवानों ने धन जिस ढंग से कमाया है और जिस मनोवृत्ति से संग्रह किया है, उसे देखते हुए यही सोचा जा सकता है कि वे वह पैसा (१) बेटे, पोतों को विलासी हरामखोर बनाने के लिए छोड़ेंगे। (२) चोरों, डॉक्टरों, शराबघरों एवं वेश्याओं के यहाँ फेकेंगे। (३) राजनैतिक दाव-पेंचों में खर्च करेंगे। (४) विवाह-शादियों में होली फूँकेंगे। (५) अमीरी का ठाट-बाट और शान-शौकत का ढोंग खड़ा करेंगे। (६) मरने के बाद मुकदमेबाजी और सरकारी टैक्सों में उसे बह जाने देंगे। (७) सस्ती स्वर्ग की टिकट खरीदने के लिए छुट-पुट कर्मकांडों के बहाने धर्म वंचकों से जेब कटवाएँगे। (८) कोई तुरंत नामवरी का या प्रतिष्ठा का लालच दिखा दें तो उसमें थोड़ा-बहुत लगा देंगे। धर्मशाला-सदावर्त का विज्ञापन बोर्ड भी उन्हें रुचिकर लग सकता है। (९) कोई ठग उन्हें लंबे-चौड़े सब्जबाग दिखाकर ठग ले जा सकता है। ऐसे ही किसी औंधे-सीधे मार्ग में उनकी कमाई जा सकती है। पर मानवीय उत्कर्ष के सच्चे आधार—लोकमानस के परिवर्तन में शायद ही इस वर्ग में से किसी की रुचि पैदा की जा सके।

दीखती निराशा ही है, पर कोशिश करनी चाहिए कि, कोई विवेकशील धनी प्रतिभा-दूरदर्शिता का परिचय दे और मनुष्य को भावनात्मक परतंत्रता के कारागार से छुड़ाने में अपनी कमाई का

कुछ अंश लगा सके। असंभव कुछ भी नहीं। एक भामाशाह उस युग में भी निकला था। जिसने राणा प्रताप की नशों में नया रक्त भरा था और पर्दे के पीछे भारतीय स्वतंत्रता का एक गौरवपूर्ण अध्याय खोला था। हो सकता है, उसकी परंपरा का कोई बीज कहीं पड़ा अंकुरित हो रहा हो और प्रोत्साहन का अभिसिंचन पाकर हरे-भरे पत्र-पल्लवों से लदकर फलने-फूलने तक बढ़ चले। प्रयत्न इसके लिए भी करना चाहिए। धनियों को कहना चाहिए—भावनात्मक नव-निर्माण के पुण्य प्रयोजन में सहयोग देने से बढ़कर और कोई दान पुण्य हो नहीं सकता। समझ और सदाशयता जीवित हो तो वे वस्तुस्थिति पर विचार करें और उदारता की एक बूँद उस प्रयोजन के लिए भी खर्च कर दें, जिस पर मानव जाति एवं समस्त संसार के भाग्य भविष्य बनने-बिगड़ने की संभावना बहुत कुछ निर्भर है।

जहाँ भी जीवन शेष है—जगाया जाना चाहिए, जहाँ भी उमंग बच रही है, उसे उठाया जाना चाहिए। मानवता सर्वथा मृत नहीं हो सकती, उसकी साँस इन गई-गुजरी परिस्थितयों में भी कहीं न कहीं चल रही है, आवश्यकता उसे ऐसी संजीवनी बूटी पिलाने की है, जो पुनर्जीवन प्रदान कर सके। अपना देश किसी जमाने में नर-रत्नों की खान था। यहाँ घर-घर में नर-रत्न और नर-नारायण निकलते थे। आज केवल पेट और प्रजनन में संलग्न कीड़े-मकोड़े ही बच रहे हों, सो बात नहीं है। देश, धर्म, समाज और संस्कृति की बात सोच सकें, ऐसी प्रतिभाओं का अभी भी बीज नाश नहीं हुआ है। आवश्यकता उन्हें खोजने-जगाने और नव-जीवन प्रदान करने की है। भारत माता की कोख और गोद उदार दानियों, प्रगल्भ साहित्यकारों, भाव भरे कवियों, सरस्वती की लाज रखने वाले कलाकरों, सच्चे संतों, धर्मसेवियों और समर्थ नेतृत्व कर सकने वाले महामानवों से रहित नहीं हुई है। जो मानवता की पुकार सुन सकें, ऐसी सजीव आत्माएँ इस धरती में कहीं न कहीं जरूर छिपी

मिल सकती हैं। समय आ गया है कि उन्हें चुनौती भरा आमंत्रण दिया जाए, आगे आकर कुछ करने की युग की पुकार से अवगत कराया जाए। इस आमंत्रण को कोई स्वीकार न करे, ऐसा नहीं हो सकता। अपने युग निर्माण परिवार में ही ऐसी विभूतियाँ मौजूद हैं, जो यदि जाग पड़ें तो देश का कायाकल्प कर सकना ही नहीं—विश्वव्यापी युग परिवर्तन प्रस्तुत कर सकती हैं। समय ने पुकारा है कि यह संभावना साकार होनी चाहिए और भावना को क्रियाशीलता का रूप धारण करना चाहिए।

विश्वास किया जाना चाहिए कि अगले दिनों कितनी ही प्रतिभाएँ आगे आयेंगी और पीड़ित मानवता को आज की दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति से उबारने के लिए अपने शौर्य और साहस का, त्याग और बलिदान का, पौरुष और पुरुषार्थ का आदर्श उपस्थित करेंगी। प्रतिभाओं को समय ने पुकारा है, वे व्यामोह के बंधनों को काटकर नव-निर्माण के लिए कदम बढ़ाएँ, इसी में उनका गौरव और विश्व का कल्याण निर्भर है।

❐ ❐

# संपदाएँ और प्रतिभाएँ अपनी दिशा बदलें

व्यक्ति की समृद्धि, संतुष्टि और प्रफुल्लता समाज की समुन्नत परिस्थितियों पर निर्भर है। सच तो यह है कि व्यक्ति समाज रूपी एक बड़ी मशीन का छोटा-सा पुर्जा मात्र है। मशीन जिस दिशा में चल रही होती है, पुर्जे को भी उसी दिशा में घिसटना पड़ता है। मोटर का इंजन जिस दिशा में चल रहा हो उसी में उसके मडगार्ड आदि चल पड़ते हैं। समाज के प्रवाह में व्यक्ति को बहना पड़ता है और समाज की परिस्थितियों की प्रतिक्रिया हर व्यक्ति पर सर्दी-गर्मी के ऋतु प्रभाव की तरह पड़ती है। यदि सामाजिक परिस्थितियाँ विपन्न हों तो व्यक्ति नेक और सज्जन होने पर भी सुख चैन से नहीं रह सकेगा। दुष्ट लोग अपनी दुष्प्रवृत्तियों की चपेट में उसे भी लिये बिना न रहेंगे। व्यक्तिगत कारण न होते हुए भी सामाजिक कारणों से भी कष्ट और क्लेश सहने के लिए विवश होना पड़ता है। ऐसे उदाहरण पग-पग पर मिल सकते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि अमुक व्यक्ति सज्जनता और नेकी के मार्ग पर चल रहा था, पर दुष्ट व्यक्तियों, दुष्प्रवृत्तियों और विपन्न परिस्थितियों ने उसे अकारण त्रास दिये और पथ भ्रष्ट करके छोड़ा।

हमें अपनी सुख-सुविधाओं को योग्यता और संपन्नता को बढ़ाने की बात ही नहीं सोचनी चाहिए, वरन् यह भी देखना चाहिए कि अपने चारों ओर क्या बढ़ता-उगता चला आ रहा है। शत्रु के आक्रमण का मुकाबला दूरवर्ती सीमाओं पर ही किया जा सकता है, जब वह राजधानी तक आ पहुँचा तब कैसे निपटा जाएगा ? जिस दिन अपने ऊपर बीतेगी उस दिन सोचेंगे, यह दीर्घसूत्रता अवांछनीय है।

समय रहते चेत जाना चाहिए और मुहल्ले के छप्परों में लगी आग को बुझाने के प्रयत्न में तत्पर होकर अपने छप्पर को बचाने की मोर्चेबंदी करनी चाहिए। कोई पूर्णतया व्यक्तिवादी हो—केवल अपने स्वार्थ को ही प्रधानता देता हो, तो भी उसके लिए उचित यही है कि सामाजिक विपन्नताओं का प्रतिरोध करके अपनी उपलब्धियों को

सुरक्षित बनाने की मोर्चेबंदी कर ले। अन्यथा चोर और दुर्जनों से घिरा हुआ ईर्ष्यालु और विघ्न संतोषी वातावरण उसकी शांति एवं उपलब्धि को नष्ट-भ्रष्ट करके रहेगा। पड़ौस के वातावरण को सुधारना यों परमार्थ समझा जायेगा, पर वस्तुतः वह विशुद्ध दूरदर्शिता पूर्ण स्वार्थ भी है। राजधानी की रक्षा के लिए सीमा पर सेना नियत करनी पड़ती है, इसे बुद्धिमत्ता ही माना जाता है।

सामाजिक विपन्नता को दूर करने के लिए प्रयत्न करना—व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि का भी एक अंग है। अन्यथा हम या हमारा परिवार उन साधनों से लाभ न उठा सकेंगे, जो बड़े प्रयत्न और परिवार के साथ भविष्य की बड़ी-बड़ी सुखद कल्पनाओं के साथ जुटाये हैं। पड़ौस के आवारा लड़के यदि हमारे बच्चों को बहकाकर अपने जैसा बना लें। अपनी लड़की को छेड़ें। संभव है, वे अपने अबोध बालक कुमार्गगामी बनकर अपनी सारी दौलत नष्ट कर दें और बदनामी, चिंता तथा विपत्ति सिर पर ला पटकें। बच्चों के लिए धन जमा करने वालों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समीपवर्ती वातावरण अवांछनीय न हो।

यों समाज सेवा अति उच्च कोटि की भागवत पूजा है। पर उनमें परमार्थ के साथ स्वार्थ भी सन्निहित है। विश्व मानव ही भगवान् का असली स्वरूप है। जन-जन में समाई हुई आत्मा का समष्टि स्वरूप ही परमात्मा है। भगवान् राम ने कौशल्या तथा काकभुसुंडि को अपना विराट् स्वरूप दिखाकर मोह दूर किया था। भगवान् कृष्ण यशोदा तथा अर्जुन को आत्म-ज्ञान देने के लिए अपने विराट् स्वरूप का दर्शन कराया था। यह विश्व ही विराट् ब्रह्म है, इसकी सेवा-पूजा से ही आत्मा में उदारता, प्रेम, परमार्थ जैसे उच्च गुणों का विकास होता है और आत्मिक प्रगति संभव होती है। जप, ध्यान, पूजा, कीर्तन, व्रत, स्नान आदि कर्मकांडों का प्रयोजन अंतःकरण में दिव्य सत्प्रवृत्तियों का विकसित करना है। सो स्वार्थों पर अंकुश रखकर परमार्थ चेतना में विकसित होने की प्रवृत्ति बढ़ने से संबद्ध है। ईश्वर-प्रशंसा, स्तुति तथा भोग-प्रसाद का भूखा नहीं

है। उसे व्यक्ति की आंतरिक महानता जो परमार्थ प्रयोजनों में अभिरुचि के साथ विकसित होती है—द्रवित और आकर्षित कर सकती है। इसलिए समाज सेवा की परमार्थ चेतना वस्तुतः ईश्वर की प्राप्ति और आत्मा की प्रगति की एकमात्र कसौटी है, जिसे सेवा धर्म में उत्साह न हो, उसके भजन-साधन को निरर्थक गया ही समझना चाहिए।

मनुष्य का प्रधान गुण कृतज्ञता है। अपने ऊपर हुए अहसानों को याद रखना और उनका ऋण चुकाने के लिए प्रयत्नशील रहना व्यक्ति में मानवीय महानता विकसित होने का प्रधान चिह्न है। समाज के असीम अनुदान, सहयोग और उपकार से ही हम वर्तमान स्थिति तक पहुँचने में समर्थ हुए हैं। एकाकी व्यक्ति तो बोलने, लिखने, कमाने तथा जीवन साधन जुटाने तक में समर्थ नहीं हो सकता। दूसरे प्राणी एकाकी जीवनयापन कर सकते हैं, पर मनुष्य को जितने साधन चाहिए, उन्हें सामाजिक सहयोग के बिना केवल अपने बलबूते—जुटा नहीं सकता। पशु-पक्षियों से बढ़कर जो कुछ भी अतिरिक्त उपलब्धियाँ अपने को मिली हैं, वे चिरकाल से चली आ रही मानवीय सज्जनता एवं श्रमशीलता की ही परिणति है। हमारे व्यक्तित्व में समाई हुई विशेषताएँ वस्तुतः समाज की ही देन हैं, जो कुछ भी हम कमा पा रहे हैं, उस सबके पीछे सामाजिक सहयोग ही झाँक रहा है। इस तथ्य को समझने वाले हर मनुष्य के शरीर के साथ-साथ मनुष्यता रखने वाले व्यक्ति का कर्तव्य है कि समाज के उपकारों का ध्यान रखे, उसके अनुकूल रहे और इस कृतज्ञता भार को हलका करने के लिए—ऋण से उऋण होने की आवश्यकता समझकर समाज सेवा के लिए अधिकाधिक साहस जुटाता रहे।

गीता में भगवान् ने घोषणा की है, जो अपने लिए ही कमाता और स्वयं खाता है, वह पाप खाता है। पेट और प्रजनन भर का प्रयोजन लेकर जीना और सारी गतिविधियाँ इन दो पाशविक प्रवृतियों के इर्द-गिर्द घूमने में व्यतीत होने वाला जीवन जीना केवल

नर-पशुओं को ही शोभा देता है। जिसमें विश्व मंगल के लिए बढ़-चढ़कर अनुदान प्रस्तुत करने की भावनाएँ नहीं उठतीं, उसे पाषाण ही कहा जाएगा, फिर वे चाहे कितने ही बड़े विद्वान्, धनवान् या सत्ताधारी क्यों न हों। जो अपने लिए जिये, जिसने भौतिक साधन बढ़ाने में जिंदगी खर्च कर दी और समाज की दुर्दशा की ओर से मुँह मोड़े बैठा रहा; पीड़ित मानवता को उबारने के लिए जिसमें भावुक संवेदना न जग सकी, उसे मरघट का प्रेत-पिशाच ही कहना चाहिए। छुट-पुट पूजा-पत्री की, टंट-घंट की अफीम खिलाकर आत्मा की भूख को नहीं बुझाया जा सकता। वह तो लोक-मंगल के लिए प्रस्तुत किये गये, बढ़े-चढ़े अनुदानों से ही तृप्त हो सकती है। सेवा विमुख हृदयहीन व्यक्ति आत्मशांति के लिए पूजा-पत्री का तिनके जैसा सहारा पकड़ते जरूर हैं, पर उतने भर से किसी का भी उबर सकना संभव नहीं। आत्म-संतोष का एक मात्र आधार लोक-मंगल के लिए प्रस्तुत किये गये अनुदान-बलिदान ही हो सकते हैं, जिसके भीतर यह सच्चाई न उतर सकी—समझना चाहिए कि जीवनोद्देश्य के आधार को समझने में वह सर्वथा वंचित ही रह रहा है। अभी उसके अज्ञान का प्रथम पर्दा भी नहीं हटा।

वर्तमान परिस्थितयाँ तो आपत्ति काल की तरह हैं, जो प्रबुद्ध अंतःचेतना को पुकारती हैं कि हर काम छोड़कर इस सामाजिक विपन्नता को उबारने में सहयोग करें। यह आपत्तिकाल है—इसमें आपत्ति धर्म की तरह कुछ समय सारे काम रोककर ही एक दिशा में जुट पड़ना ही कर्तव्य है। अग्निकांड में मुहल्ला जल रहा हो, महामारी के आक्रमण से नगर में हाहाकार मचा हो, अकाल या दैवी प्रकोप से पीड़ित असंख्य लोगों की जब जान पर बन आई हो, शत्रु ने देश पर हमला कर दिया हो, दुर्घटनाग्रस्त सामने पड़े कराह रहे हों, तो मनुष्य की एक ही पुकार रहेगी कि—अपनी आजीविका या सुविधा छोड़कर भी उस विपन्नता को दूर करने में जी जान से जुट जाना चाहिए। ऐसे आपत्ति काल में भी जिसे दौलत जोड़ने और मौज-मजा करने वाले साधन जुटाने की सूझती है, उसे हृदयहीन

नर-पिशाच ही कहा जाएगा। दानव उन्हें ही नहीं कहते जो दूसरों पर आक्रमण करके सताते रहते हैं। एक प्रकार के असुर वे भी हैं, जो पीड़ित मानवता की सहायता के लिए चारों ओर से उठती हुई चीत्कार को अनसुनी करते हुए तुच्छ भौतिक स्वार्थों की पूर्ति तक अपनी गतिविधियाँ सीमित किये रहते हैं। वे रामायण, गीता पढ़ते हों, धार्मिकता के अन्य उपचार करते हों तो उन्हें विडंबना मात्र ही समझा जाएगा। जो धार्मिकता मनुष्य में सेवा बुद्धि उत्पन्न न कर सके, आपत्तियाँ की दलदल में फँसे हुए जनता-जनार्दन के लिए अपना कुछ कर्तव्य निर्धारित न कर सके, उनको धर्म विडंबना की नितांत नपुंसक एवं बालक्रीड़ा करने वाला ही माना जाएगा। अनादि काल से लेकर आज तक हमें धर्मनिष्ठा को आत्म-संयम द्वारा स्वार्थों पर कठोर नियंत्रण करके परमार्थ के लिए अधिकाधिक उत्साह भरे अनुदान प्रस्तुत करने की दिशा में अग्रसर होना पड़ा है। महामानवों, धर्मात्माओं और अध्यात्मवादियों का क्रिया-कलाप इस तथ्य पर भी निर्भर रहता है। संसार के इतिहास में आज तक कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ, जो लोक मंगल के लिए बढ़े-चढ़े अनुदान प्रस्तुत किये बिना धर्म परायणों, महामानवों अथवा ईश्वर भक्तों की पंक्ति में खड़ा हो सका हो। आज की परिस्थितियाँ तो उस सामान्य सेवा-धर्म को आपति काल के आपत्ति धर्म की तरह अनिवार्य रूप से अपनाये जाने के लिए हर सहृदय व्यक्ति को विवश किये बिना नहीं रह सकतीं।

युग धर्म के रूप में युग साधना के रूप में हमने हर धर्म प्रेमी और आत्मवादी व्यक्ति का आह्वान किया है कि—वह लोक-मंगल के लिए अपने बढ़-चढ़कर अनुदान प्रस्तुत करे। उसकी न्यूनतम मर्यादा भी बना दी है—एक घंटा समय और दस पैसा। इससे कम नहीं अधिक ही साहस किया जाना चाहिए। यह छोटे कदम तो उन बालकों के लिए हैं, जिन्होंने अभी घुटने के बल सरकने से उठकर पैरों चलने का प्रयास आरंभ ही किया है। जो वयस्क हो चुके उनके कदम इस चौड़ाई से अधिक ही उठने चाहिए।

यों कई लोग परमार्थ के नाम पर बहुत समय और पैसा खर्च करते रहते हैं, पर उपयोगिता-अनुपयोगिता की कसौटी न होने से अधिकतर वे प्रयत्न व्यर्थ—बरबाद होते रहते हैं। वे समझते भर हैं कि हम कुछ अच्छा काम कर रहे हैं। पर समझ बैठने भर से तो कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वस्तुस्थिति भी तो वैसी होनी चाहिए। अक्सर वेदांतवादी अपने को शिवोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि कहते रहते हैं, पर उनकी मनःस्थिति तथा क्रिया पद्धति बहुत ही घटिया दर्जे की होती है। ऐसी स्थिति में उनका यह घोष उपहासास्पद ही माना जाएगा। यदि हम ब्रह्म हैं, तो हमारे आदर्श और आचरण भी उसी कसौटी पर खरे उतरने चाहिए। जो अपने को वैसा सिद्ध कर सके उसी का अपने को शिवोऽहम् कहना सार्थक है। उसी प्रकार जो लोग परमार्थ की कल्पना गढ़कर निरर्थक कामों में समय और धन लुटाते रहते हैं, उन्हें उस भ्रांत स्थिति में आत्म-संतोष भी नहीं मिल सकता; किसी का, समाज का, लाभ होना तो बहुत पीछे की बात है।

यह हजार बार समझना चाहिए और लाख बार समझाया जाना चाहिए कि संसार के समस्त अभावों, दुःखों, कष्टों, अवरोधों एवं उलझनों का एक ही कारण है—"विचारणा के स्तर में निकृष्टता का भर जाना।" लोग वस्तुओं के अभाव में दुःखी नहीं हो सकते। व्यक्ति में इतना पौरुष और चातुर्य मौजूद है कि वह अपने साधनों से अपनी आवश्यकता सहज ही पूरी कर सके और सामान्य जीते हुए सुख-शांति भरे दिन गुजार सके। विपत्तियाँ और उलझनें तो बुद्धि भ्रम ही उत्पन्न करता है। तृष्णा और वासना की गुलामी ने उसे नर-नारायण के सिंहासन से गिराकर नर-पशु एवं नर-पिशाच की दुर्गति तक पहुँचाया है। जो भुगतना पड़ रहा है उसका उत्पादक वह स्वयं है। यह एक सच्चाई है कि, मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है। गिरे स्तर के लोग शोक-संताप भरी नारकीय दुर्दशा भोगेंगे, जबकि उच्च भावनाओं से सुसंपन्न लोग हर परिस्थिति में अपने लिए स्वर्गीय अनुकूलता उत्पन्न कर लेंगे। स्वयं

शांति से रहेंगे और संबद्ध लोगों को शांति से रहने देने का वातावरण उत्पन्न करेंगे।

इस तथ्य को समझने वालों को परमार्थ का मात्र एक ही मार्ग रह जाता है कि लोक-मानस के प्रवाह को अवांछनीयता से मोड़कर औचित्य की दिशा में नियोजित करने में अपनी सारी शक्ति लगा दें। इस तथ्य को जिन मनीषियों ने समझा उन्होंने लोक-मानस को आदर्शवादिता की प्रतिष्ठापना करना ही अपनी गतिविधियों का केंद्र बनाया। साधु और ब्राह्मण जीवन का मात्र यही एक उद्देश्य था। ईश्वरीय उत्कृष्टता का अपने भीतर अवतरण करने के लिए वे उपासना भी करते थे और जन-साधारण पर अपनी आदर्शनिष्ठा प्रमाणित करने के लिए वे तपस्वी जीवन की रीति-नीति भी अपनाते थे, यह उनकी व्यक्तिगत तैयारी थी। क्रिया-कलाप तो उनके जन-मानस में उत्कृष्टता की स्थापना और परिपुष्टि से ही नियोजित रहता था। इस साधु, ब्राह्मण संस्था के प्रयत्नों का ही प्रतिफल था कि भारत की परिस्थितियाँ संसार में स्वर्ग समझी जाती रहीं और यहाँ के नागरिकों को हर दृष्टि से सुसंपन्न देवताओं की पंक्ति में बिठाया जाता रहा।

आज हम सब दिशा भूल गये हैं। हम यह सोच बैठे हैं कि साधनों के अभाव में व्यक्ति दुःखी है, इसलिए सुविधाएँ बढ़ा दी जाएँ तो दिखाई देने वाले कष्ट दूर हो जाएँगे। सरकार की सारी गतिविधियाँ एवं समृद्ध योजनाएँ इस आधार पर बनें तो एक बात समझ में आती है, क्योंकि उसकी सीमा भौतिक साधनों एवं सुविधाओं तक सीमित हैं। पर आश्चर्य तब होता है जब व्यक्ति की स्थिति का आधार 'विचारणा' को समझने वाले लोग भी भौतिक सुविधाओं के अभिवर्धन को ही पुण्य परमार्थ मान बैठते हैं। राजतंत्र ही नहीं जन-धर्म भी भौतिकता को ही प्रधान मान बैठे और उसी के साधन जुटाएँ तो यही मानना पड़ेगा कि जड़ सींचने की आवश्यकता समझने वाली बुद्धि ने भी पलायन करने की ठान ठान ली।

परमार्थ के नाम पर आज धर्मशाला, प्याऊ, अन्न क्षेत्र बनाने की धूम है। धर्मात्मा लोग अस्पताल खुलवाते और स्कूल बनवाते देखे जाते हैं। अमुक वर्ग या वेश के लोगों को ही ब्रह्मभोज, अर्थ, दान-दक्षिणा पाने का लाभ मिलता है। इस प्रकार के उपचार लोगों की भौतिक सुविधाएँ बढ़ाते हैं, सो ठीक हैं। सुविधाएँ बढ़ें तो इससे किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? पर जब सब ओर से उत्कृष्ट विचारणा के अभिवर्धन की उपेक्षा हो और वह क्षेत्र सर्वथा सूना—अभावग्रस्त पड़ा रहे तो दुःख होता है और यह सोचना पड़ता है कि विचारणा की उपयोगिता समझने वाली ज्ञान की शक्ति का मूल्यांकन करने वाली विवेकशीलता का सब ओर से बहिष्कार ही किया जाने लगा है। कम से कम धर्म और अध्यात्म की बात करने वालों को उतना समझना ही चाहिए था कि व्यक्ति और समाज की भली-बुरी स्थिति का एकमात्र कारण लोक-मानस में जमी हुई विचारणा ही उत्तरदायी है। इसलिए उसे सँभालने-सुधारने के लिए कुछ किया जाए। पर जब इस क्षेत्र के लोग भी लोक-रंजन और सस्ती वाहवाही देने वाली—विज्ञापनबाजी भरे—आडंबरों को ही प्रधानता देने लगें तो समझना चाहिए कि मानव समाज को दुर्गति से उबारने की दिल्ली अभी बहुत दूर है। साधन-सुविधाएँ तो इंद्र या कुबेर जितनी बढ़ सकें तो भी कुछ बनने वाला नहीं है। अमेरिका को दौलत का भंडार बताया जाता है, वहाँ सुविधा-साधनों की कोई कमी नहीं, फिर भी उस देश का नागरिक कितना क्षुब्ध है ? इसका मूल्यांकन यदि हम कर सके होते तो समझते कि धर्म के, परमार्थ प्रयोजन के नाम पर जो भौतिक-सुविधाएँ बढ़ाने की बात चल रही है, वह जड़ सींचना छोड़कर पत्ते छिड़कने जैसी मूर्खता की तरह कितनी खोखली हैं ? यदि हमने तनिक भी दूरदर्शी दृष्टिकोण अपनाया होता तो इसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना होता कि कम से कम धर्म क्षेत्र में तो 'विचारणा-परिष्कार' को प्राथमिकता मिलती। उसके लिए आज जो कुछ भी नहीं किया जा रहा है, उसके लिए कुछ किया जाने लगता।

धर्म चर्चा एवं अध्यात्म सत्संग के नाम पर भी आज केवल कूड़ा-कीचड़ ही फैलाने का प्रयास हो रहा है। नैतिक आदर्शों के प्रति उपेक्षा और अमुक देवी-देवता की स्तुति-प्रशंसा का प्रधान्य ही इन धर्म कथाओं का मात्र स्वरूप रह गया है, अध्यात्म के नाम पर कल्पना लोक के जाल-जंजाल मात्र गढ़कर किये जाते रहते हैं। जीवन के स्वरूप, कर्तव्य, सदुपयोग एवं विकास क्रम का व्यावहारिक मार्ग दर्शन इन धर्म-चर्चाओं में नहीं के बराबर होता है। वस्तुतः स्वाध्याय, सत्संग और प्रवचनों की एकमात्र दिशा विचारणा के स्तर को व्यावहारिक जीवन में आदर्शवादिता की स्थापना भर होना चाहिए। पर इस स्तर पर जो कुछ भी हो रहा है, उसमें अवांछनीयता ही छाई दीखती है, फलस्वरूप उनमें लगने वाला समय और धन एक प्रकार से निरर्थक ही जा रहा है। यदि पल्ले कुछ पड़ता है तो वह अनुपयुक्त और अनर्थकर ही होता है। अपने ज्ञान ने सर्व साधारण के सामने एक कसौटी प्रस्तुत की है कि विचार क्षेत्र में जो कुछ प्रवेश कराया जा रहा है यदि वह नैतिकता, सामाजिकता, सज्जनता, सद्भावना एवं आदर्शवादिता को समुन्नत करने वाला है तो ही उसे वांछनीय समझा जाना चाहिए।

हमें चिर उपेक्षित उत्कृष्ट विचारणा की महती आवश्यकता पूर्ण करने के लिए अधिकाधिक तत्परता दिखाकर उस भूल का प्रायश्चित्त करना चाहिए, जिसके कारण कि सर्वत्र भावनात्मक अराजकता और क्रियात्मक उच्छृंखलता का साम्राज्य छा गया। यदि आरंभ से ही जड़ सींचने की बात को ध्यान में रखा होता तो यह सुरम्य उद्यान इस प्रकार न मुरझा जाता। समय आ पहुँचा है कि हम सब मिल-जुलकर इस खाई को पाटने का प्रयत्न करें, जो पिछले दिनों सत्य सद्ज्ञान के प्रति उपेक्षा बरतने के कारण उत्पन्न हो गई है। कुछ समय तक यह सभी धर्म एवं परमार्थ के नाम पर चल रहे विविध उपचारों को रोककर आपत्ति काल के आपत्ति धर्म की तरह 'विचार-संकट' को दूर करने में लग जाना चाहिए। यदि जन मानस को अवांछनीय मान्यताओं एवं आकांक्षाओं की ओर

मोड़कर उपयुक्त दिशा दी जा सके तो संसार की हर समस्या का सहज ही हल हो जाएगा। जनता की शक्ति अपार है, जन सहयोग से एक नया संसार रचा जा सकता है। व्यक्ति अपने आप में अति समर्थ है, यदि उसे सामूहिकता को विकसित करने वाली परमार्थ परायणता की ओर उन्मुख कर दिया जाये तो देखते-देखते धरती पर स्वर्ग उतारा जा सकता है और आज जो अगणित अभाव, अनाचार, शोक-संताप उत्पन्न करते दीखते हैं, उनमें से एक का भी अस्तित्व शेष न रहेगा।

हमें सद्ज्ञान संवर्धन के महान् अभियान को अग्रसर करने में एक जुट होकर संलग्न होना चाहिए। हर विवेकवान् को समझाया जाना चाहिए कि इन दिनों युग की यही सबसे बड़ी आवश्यकता हैं। मानव का उज्ज्वल भविष्य इसी संभावना की पूर्ति के साथ अविछिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। हमारी परमार्थ इन दिनों बिखरनी नहीं चाहिए, वरन् 'ज्ञान यज्ञ' के, विचार क्रांति के एक ही बिंदु पर एकत्रित की जानी चाहिए। हमारा सारा उत्साह एवं पुरुषार्थ इसी प्रयोजन की पूर्ति में लगना चाहिए। पिछले दिनों जो उपेक्षा बरती गई है, उसकी पूर्ति इन दिनों अधिकाधिक उत्साह, उल्लास, आवेश एवं त्याग बलिदान के साथ पूरी की जानी चाहिए। हमारे बीच स्वस्थ प्रतियोगिता चल पड़े कि इस संदर्भ में कौन कितना कर गुजरता है ? हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ इस लक्ष्य पर केंद्रीभूत होनी चाहिए कि किसने नवनिर्माण की दिशा में कितना साहस-दुस्साहस कर दिखाया। शौर्य की इन दिनों यही एकमात्र कसौटी हो सकती है कि तुच्छ स्वार्थों के दलदल में फँसी हुई आकांक्षा को किसने लोक मंगल के लिए प्रयुक्त कर अपनी महानता का परिचय किस अनुकरणीय आदर्शवादिता के साथ—शानदार परंपरा के अनुरूप प्रस्तुत किया। युग ने ऐसे ही पौरुष की चुनौती दी है। कोई भी उसे स्वीकार न कर सका तो यह बड़े कलंक की बात होगी। हममें से हर एक को अपने से यही कहना चाहिए और सोये मनोबल को जगाकर स्वयं ही अग्रिम पंक्ति में खड़े होने की हिम्मत दिखानी चाहिए।

हमारे स्वप्न महान् हैं। उनको साकार स्वरूप देने के लिए महान् प्रयत्न करने होंगे और महान् साधन जुटाने होंगे। इस महा अभियान को सफल बनाने के लिए मानवीय महानता जहाँ कहीं भी जाग्रत् सुषुप्त पड़ी हो, उसका साग्रह आह्वान किया जा रहा है, ऐसी विषम बेला में भी वह सजग नहीं होती तो फिर वह किस दिन की प्रतीक्षा में जीवित रहेगी ?

व्यक्तिगत सुविधा-साधनों को बढ़ाने में, बेटे-पोतों को ऐश-आराम के सरंजाम छोड़ जाने में, लोभ, परिग्रह और तृष्णा की ज्वाला जलाने में, जो पूँजी लगी हो उसे हम बुलाते हैं कि उसका वहाँ उचित स्थान नहीं, जहाँ वह लगाई जा रही है। पीड़ित मानवता के उत्कर्ष में उसे खर्च होना चाहिए। मानवीय प्रतिभा, पुरुषार्थ, श्रम, विवेक और वर्चस्व को हमने पुकारा है कि उसे अहंकार-आतंक और ऐश बढ़ाने में नहीं, वरन् पददलित मनुष्यता को आसुरी उत्पीड़न से बचाने में प्रयुक्त होना चाहिए। मनुष्य के पास क्षमता बहुत है, पर नगण्य से क्षुद्र प्रयोजनों में जोत दी गई है। इन अनुपयुक्त बंधनों से उसे मुक्ति मिलनी चाहिए और उस सिंहासन पर विराजमान होना चाहिए, जो उसका उचित स्थान है। धन, बुद्धि और बल की तीनों ही क्षमताएँ व्यक्तिगत तृष्णाओं की पूर्ति में लगे हैं, उन महान् विभूतियों को दैवी प्रयोजनों के लिए धरती पर स्वर्ग अवतरित करने के लिए प्रयुक्त होना चाहिए। दिशाओं ने यही पुकारा है—ईश्वर की यही पुकार है—हम उसी युग पुकार का बार-बार उद्घोष कर रहे हैं। उचित है कि समय रहते इस युग पुकार को सुन लिया जाए। न सुना जाएगा तो अधिक तो हम क्या कहें—सिर्फ चेतावनी भर देंगे कि अगले ही दिनों महाकाल इन तीनों प्रतिभाओं को व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन में जुते रहने से मुक्त करा लेगा। कोई धनी न रह सकेगा, किसी की बुद्धि व्यक्तिगत तृष्णा की पूर्ति में न लगी रहने पाएगी। किसी का बल वासना की पूर्ति में संलग्न न रहने दिया जाएगा। नोट करने वाले नोट कर लें—जिसे हम स्वेच्छा-सज्जनता से अनुदान में माँग रहे हैं, वह यदि देते न

बना तो वह दिन दूर नहीं, जबकि हर कृपण से इन दैवी विभूतियों को महाकाल लात मारकर उगलवा लेगा और तब बहुत देर तक कसक-कराह भरा दर्द सहना पड़ेगा। आज वह त्याग, उदारता, आत्म-संतोष और ऐतिहासिक यश के साथ किया जा सकने का अवसर है।

कितने ही प्रखर व्यक्ति ऐसे हैं, जो सामाजिक उत्कर्ष के लिए अपना सारा जीवन कठिन कार्य में लगाने के लिए तैयार हैं, पर उनके तथा उनके बच्चों के लिए रूखी रोटी और मोटे कपड़े तो चाहिए ही। यदि यह साधन जुटा सकें तो लाखों लोक-सेवकों की सेना खड़ी की जा सकती है। और उसके द्वारा रचनात्मक और संघर्षात्मक गतिविधियों की आशाजनक प्रगति देखने को मिल सकती है। जनमानस में अमृत के बीज बोने वाले विचार विभिन्न भाषाओं में प्रस्तुत किये जा सकते हैं, उनके लिए पैसा कौन दे ? दान पाने के लिए तथाकथित धनियों के सामने बढ़-चढ़कर प्रपंच रचे जाने चाहिए। सीधे-सच्चे कार्यों का महत्त्व यहाँ कौन समझेगा ? पैसे के अभाव में हमारी सारी प्रवृत्तियाँ रुकी पड़ी हैं। किससे कहें कि अपनी तृष्णा और विलासिता पर अंकुश रखकर कुछ पैसे हमें दीजिये, ताकि मूर्च्छित मानवता को प्राणवान् बनाने वाली, संजीवनी बूटी जुटाने वाले सरंजाम जुटाएँ। आडंबरों पर दौलत स्वाहा करने वाले बहुत हैं, पर आदर्शों को जीवित रखने के लिए दूरदर्शिता पर उदारता दिखाने वाले भामाशाहों की तो संभवतः परंपरा ही समाप्त हो गई। राणा प्रताप यदि जीवित होते तो उनको भी शायद ऐसे ही विक्षुब्ध मन से हिमालय पलायन करना पड़ता।

पौरुष, शौर्य और साहस की अपने यहाँ कमी नहीं, पर वह भी निन्यानवे के फेर में पड़ी हैं। हजार को लाख और लाख को करोड़ बनाने के व्यामोह की वारुणी पीकर प्रतिभाएँ मदोन्मत्त हो रही हैं। वे चाहतीं तो अब तक की संचित पूँजी के बल पर मजे से जीवन निर्वाह कर सकती थीं और अमीरी बढ़ाने की अपेक्षा नव-निर्माण के लिए उत्सर्ग हो सकती थीं। इतना शौर्य उन्हें मिल

गया होता तो स्वयं धन्य होतीं, अपने युग को धन्य करतीं और इतिहास उनकी अमर गाथाएँ गाता। पर इस पिशाचिनी कृपणता को कोई क्या करे, जिसने संकीर्ण-स्वार्थों की कृमि-कीट जैसी दृष्टि-परिधि से आगे कुछ देखने, सोचने से ही वंचित कर दिया। अब 'महामानव' बनाने का आदर्श निलुप्त हो गया, केवल 'बड़े आदमी' बनने का शौक बाकी हैं और अभागी प्रतिभाएँ उसी आग में पतंगे की तरह जल-जलकर मर रही हैं।

हमें बहुत दर्द है कि दौलत के पहाड़ चारों ओर खड़े हैं, प्रतिभाएँ एक से एक बढ़कर मौजूद हैं, पर वे तुच्छता एवं संकीर्णता के चंगुल में फँसी हुईं, तुच्छ प्रयोजनों के लिए बलि चढ़ रही हैं। कोई उन्हें नरक के बंधनों से छुड़ाकर युग की पुकार पूरी करने में लगा सका होता तो आज दृश्य ही कुछ दूसरे नजर आते।

अगले दिनों जन-जागरण की शिक्षा को अति व्यापक बनाया जाना है, उसके लिए छोटे-बड़े, पूरे या अधूरे समय के लिए अगणित शिक्षा सत्र चलाने पड़ेंगे। इसके लिए हर सुशिक्षित का समय लगना चाहिए। धर्म मंच को सँभालने वाले प्रतिभाशाली व्यक्तित्व लोक शिक्षण से अपनी धर्म परंपराओं के माध्यम से चलने वाली भावनात्मक योजनाओं को आगे बढ़ा सकते हैं। हिंदू धर्म के बाहर के अन्य धर्मों में और हिंदी भाषा से बाहर की अन्य भाषाओं में इस प्रक्रिया को प्रचलित कर सकने वाले उन क्षेत्रों के अनेक व्यक्तियों की जरूरत पड़ेगी। ऐसे व्यक्ति अपने ज्ञान, प्रतिभा, पुरुषार्थ से समय, श्रम और धन-संपदा के सुनियोजन के लिए मानसिकता बनाकर तत्परतापूर्वक महाकाल की युग प्रत्यावर्तन प्रक्रिया में भागीदार बनें। ऐसा करके वे मानव-इतिहास में अपना नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना सहज संभव कर पायेंगे—साथ-ही-साथ आत्म-संतोष, लोक सम्मान एवं दैवी-अनुग्रह के अक्षय भागीदार बन सकेंगे।

# प्रतिभाओं का लोक-मंगल क्षेत्र में पर्दापण अनिवार्य

पिछले हजार वर्षों से जिस अज्ञानांधकार के युग में हमें रहना पड़ा है, उसके फलस्वरूप हमारे चिंतन की दिशा में विकृतियों की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि प्रगति के लिए किये गये सभी प्रयत्न उलटे पड़ते हैं। सुधार और प्रगति की सभी योजनाएँ चारित्रिक दुर्बलता से टकराकर निष्फल हो जाती हैं। कारण की तह तक हमें जाना होगा और भावनात्मक नव-निर्माण के लिए एक ऐसा प्रचंड अभियान चलाना होगा, जो जनमानस को चरित्रनिष्ठा, आदर्शवादिता—मानवीय सद्भावना—प्रचंड कर्मठता और औचित्य को अपनाने की साहसिकता से ओत-प्रोत कर दे। इस अभियान आंदोलन को जितनी सफलता मिलती जाएगी, उसी क्रम से प्रगति का पथ प्रशस्त होता चला जाएगा।

इस संदर्भ में क्या किया जाना चाहिए, युग-निर्माण योजना इसी तथ्य से सर्वसाधारण को परिचित करा रही है। व्यक्ति का आदर्श और समाज का स्वरूप कैसा हो, इसकी अपनी कल्पना स्पष्ट है। उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए नैतिक-बौद्धिक और सामाजिक क्रांति की त्रिविध कार्य पद्धति से युक्त अपना अभियान चल रहा है। ज्ञान यज्ञ, लोकसेवियों का संगठन, शिक्षा विस्तार, कला परिष्कार, रचनात्मक कार्य, संघर्षात्मक आंदोलन की प्रक्रिया कार्यान्वित की जा रही है। इस व्यापक आंदोलन के साधन कैसे इकट्ठे किये जाएँ, इसके लिए धर्मतंत्र के वर्तमान स्वरूप का परिवर्तन, शासन सत्ता का उपयोग, जन साधारण में लोक मंगल के प्रति उत्साह का उद्भाव की अनिवार्य आवश्यकता है। इन तीन साधनों की चर्चा पिछले पृष्ठों पर की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त धन शक्ति और जन शक्ति के शक्ति स्रोतों को इस पुण्य प्रयोजन में नियोजित करने की एक बात और रह जाती है, जिसके बिना नव-निर्माण के प्रयोग सफल होने में बहुत विलंब लगा लेंगे।

हमें जनमानस में प्रबल प्रचार द्वारा यह बात बिठा देनी चाहिए कि मानव जीवन का श्रेष्ठतम सदुपयोग लोक मानस के परिष्कार में अधिकाधिक प्रयत्न, पुरुषार्थ, त्याग, बलिदान करना ही हो सकता है। कई व्यक्ति ईश्वर भक्ति और साधना-उपासना में जीवन की सार्थकता सोचते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि विश्व मानव में व्यापक रूप से समाई हुई आत्मा का नाम ही परमात्मा है। जप, तप, ध्यान आदि का प्रयोजन अंतःकरण को इतना निर्मल बनाता है कि दूसरों के दुःख में अपना दुःख और दूसरों के सुख में अपना सुख जुड़ा हुआ परिलक्षित होने लगे। ऐसी करुणा, पवित्रता, उदारता और ममता से भरा हृदय ही ईश्वर के निवास का परमप्रिय स्थान हो सकता है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना अंतरंग में जमाकर स्वार्थ का परमार्थ के लिए उत्सर्ग कर देना ही पूर्णता—आत्म साक्षात्कार और ईश्वर प्राप्ति की स्थिति है। ईश्वर खुशामदी, लालची या रिश्वतखोर आदमी का नाम नहीं। वह उदात्त भावनाओं का एक उत्कृष्ट प्रवाह मात्र है। जिसके अंतःकरण में भी वह बहने लगे, समझना चाहिए कि उसे ईश्वर प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त हो गया। इस उपलब्धि के लिए साधक को अपनी गतिविधियाँ लोक-मंगल में नियोजित करनी चाहिए। इस संदर्भ में सबसे श्रेष्ठ सत्कर्म की साधना जन-मानस को परिष्कृत करने के प्रयत्नों द्वारा ही हो सकती है।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि धन की वृद्धि होने से लोगों के कष्ट दूर हो जाएँगे। इसलिए वे आर्थिक उन्नति के साधन खड़े करने में दत्त चित्त रहते हैं। इस प्रकार के प्रयत्न अनावश्यक हैं, यह नहीं कहा जा रहा, पर इस तथ्य को जान ही लेना चाहिए कि दुर्बुद्धि के साथ बढ़ी हुई संपदा साँप को दूध पिलाने की तरह व्यसन, व्यभिचार अपव्यय, विलास, अहंकार, दर्प, कलह आदि बढ़ाने का ही निमित्त बनती है। ऐसी संपदा ठहरती भी नहीं। बारूद की तरह जलकर देखते-देखते स्वाहा हो जाती है। संपदा तभी उपयोगी है, जब उसके साथ सद्बुद्धि और सद्भावना भी बढ़े। धन

का सदुपयोग तो ऐसी स्थिति में संभव है। सद्‌गुणी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से आवश्यक उपार्जन आसानी से कर लेता है और यदि साधन थोड़े हों तो भी मितव्ययतापूर्वक काम चलाकर आनंद और संतोष के साथ दिन गुजार लेता है। धन संपत्ति बढ़ाने की योजनाएँ बनाने से भी पहले सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने की बात सोचनी चाहिए। कई व्यक्ति राजनीति को सर्वोपरि मानते हैं और सोचते हैं कि शासन सत्ता अपने हाथ में आ जाए अथवा जो लोग शासन कर रहे हैं, वे अपने अनुकूल बन जाएँ तो व्यक्ति और समाज का उत्कर्ष हो सकता है। ऐसे लोगों को जानना चाहिए कि जब तक चरित्रनिष्ठा की नींव मजबूत न होगी तब तक जो भी व्यक्ति सत्ता सँभालेंगे, वे आदर्शहीन ओछी मनोभूमि के कारण कोई ठोस काम न कर सकेंगे। बाहर से सिद्धांतों की लंबी-चौड़ी बातें करते रहेंगे, पर भीतर ही भीतर उस तरह के ताने-बाने बुनेंगे, जिससे उनकी स्वार्थ-साधना संभव हो सके। गुटबाजी और गिरोहबंदी खूब चलती है। उसका प्रभाव सरकारी मशीन पर पड़े बिना नहीं रहता और भ्रष्टाचार आकाश-पाताल को छूने लगता है। प्रश्न दल या वाद का नहीं—नीयत का है। नीयत ऊँची हो तो कोई भी दल, कोई भी वाद समाज को ऊँचा उठा सकता है और यदि नीयत सावधान न हो तो ऊँचे से ऊँचे वाद को आज भी लोग नीच से नीच कर्म करते देखे जा सकते हैं। वोटर से लेकर अफसरों तक और नेताओं से लेकर नीति-निर्धारकों तक, जब तक ये आदर्शवादिता पर ईमान न लायेंगे, तब तक किसी न किसी बहाने संकट ही उत्पन्न किये जाते रहेंगे। एक समस्या सुलझने न पाएगी कि दूसरी खड़ी हो जाएगी। आज देश के सामने जितनी समस्याएँ हैं, उनमें से तीन चौथाई शासकों की आपा-धापी के कारण उत्पन्न हुई हैं। यदि आस्थाएँ उत्कृष्ट न बनाई जा सकीं तो किसी भी पार्टी का, किसी भी वाद का शासन हो जाए स्थिति बद से बद्‌तर होती चली जाएगी। भावनाएँ ऊँची हों तो बदनाम राजतंत्र तक आदर्श हो सकता है। रामराज्य में राजतंत्र ही था, जिसकी ग़रिमा गाते हुए हम थकते नहीं हैं। दूसरी ओर

आज के पाकिस्तानी प्रजातंत्र और साम्यवादी चीन की करतूतें हम आँखों के सामने देख रहे हैं।

अमुक धर्म वाले लोगों का शासन हो जाने से संसार में सुख-शांति हो सकती है, यह सोचना भी व्यर्थ है। योरोप में इस शताब्दी के दोनों महायुद्ध ईसाई धर्मावलंबियों के बीच ही हुए हैं। भारत में आल्हा-ऊदल की सामंती लड़ाइयाँ हिंदू-हिंदू के बीच थीं। देवता और असुर दोनों हिंदू धर्मानुयायी थे। इन दिनों जोर्डन, सीरिया में खून-खराबी चल रही है, दोनों ही मुस्लिम देश हैं। इतिहास बताता है कि किसी भी धर्म का लेबिल मानवीय श्रेष्ठता की गारंटी नहीं हो सकती। आंतरिक महानता जीवित हो तो धर्म-संप्रदाय का भेद मानवीय प्रेम, सहयोग और शांति प्राप्ति के मार्ग में तनिक भी बाधक नहीं हो सकता।

इन तथ्यों पर गहराई से विचार करने के बाद यह भ्रम आसानी से दूर हो सकता है कि आर्थिक उन्नति, राजसत्ता, संप्रदाय अभिवर्धन आदि माध्यमों से प्रस्तुत विषमताओं तथा विभीषिकाओं को दूर किया जा सकता है। हमारा चिंतन जितना गहरा होगा उतना ही स्पष्ट निष्कर्ष यह सामने आएगा कि भावनात्मक परिष्कार ही वह अमोघ उपाय है, जिसके द्वारा समस्त विभीषिकाओं का चिरस्थायी समाधान निकल सकता है। व्यक्तिगत जीवन की सफलता के लिए जिस आस्तिकता, धार्मिकता एवं साधना का प्रतिपादन किया जाता है, उसकी सार्थकता एवं सफलता हमारी उत्कृष्ट मनोभूमि पर ही अवलंबित है। घृणित विचारणा और कार्य पद्धति अपनाये हुए मनुष्य कितने ही धर्मानुष्ठान करता रहे, उसे आत्मिक प्रगति की दिशा में एक कदम भी आगे बढ़ने का अवसर न मिल सकेगा।

यह चिंतन हर विवेकवान् व्यक्ति को इस निष्कर्ष पर पहुँचा सकता है कि उसे परमार्थ प्रयोजन के लिए भावनात्मक नव-निर्माण के आंदोलन में एक निष्ठ भाव से लग जाना चाहिए। आत्म-कल्याण और विश्व मंगल के लिए इससे बढ़कर और कोई उपयुक्त मार्ग हो नहीं सकता। जिनकी मनोभूमि पशु-परिधि की है, जो पेट और प्रजनन के

अतिरिक्त तीसरी बात सोच-समझ ही नहीं सकते उनसे कुछ कहना नहीं। इसी प्रकार जिनकी क्षमता अति स्वल्प और परिवार अति विस्तृत है, उनको भी निर्वाह से आगे की बात सोच सकना कठिन है। ऐसे लोग भले मानस की तरह स्वयं जी लें इतना ही पर्याप्त है। उनसे अधिक आशा कैसे की जाए ? पर सभी लोग ऐसे नहीं होते। बहुत लोग ऐसे हैं; जिनके मन में देश-धर्म, समाज-संस्कृति, लोक-परलोक, जीवन-लक्ष्य, धर्म-कर्तव्य, आत्मा-परमात्मा जैसे स्तर के विचार उठते हैं और आदर्शवादिता की भावनाएँ हिलोरें लेती हैं। ऐसे लोगों से अनुरोध है कि वे निर्वाह की समस्या को औसत भारतीय जैसी सादगी के साथ सुलझाने में संतुष्ट हो जाएँ। अमीरी बड़प्पन, शेखीखोरी, अहंता और अय्याशी की कल्पनाओं के घोड़े से नीचे उतर आवें। शरीर यात्रा की व्यवस्था जुटाने तक ही सीमित रहें और बची हुई क्षमता, योग्यता, प्रतिभा एवं संपदा को लोक-मंगल के लिए नियोजित करने की बात सोचें।

महामानवों का, दूरदर्शियों का, बुद्धिमानों का यही रास्ता है। इस स्तर की गतिविधियाँ अपनाकर ही कोई व्यक्ति मानव-जीवन को सार्थक बना सकता है; आत्म-संतोष और आत्म कल्याण पा सकता है और ईश्वर ने अमानत रूप में जो प्रतिभा दी है, उसे परमार्थ प्रयोजन में नियोजित कर असंख्य आत्माओं को कल्याण पथ पर अग्रसर कर सकता है। संसार में व्याप्त कष्टों और संकटों का निवारण करना भी ऐसे ही आदर्शवाद अपनाने वाले लोगों के द्वारा संभव होता है।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि अगले दिन आर्थिक समता लेकर आ रहे हैं। संसार में धर्म, समाज आदि का स्वरूप जो भी रहे, पर आर्थिक समता निश्चित रूप से आकर रहेगी। अगले तीस वर्ष के भीतर संसार में एक भी व्यक्ति अमीर न रह जाएगा। पैसा बँट जाएगा, पूँजी पर समाज का नियंत्रण होगा और लोग केवल अपने निर्वाह मात्र के अर्थ-साधन उपलब्ध कर सकेंगे। राजे-रईस जिस तरह समाप्त हो गये, हमने आँखों से देख लिया। अब यह भी उन्हीं आँखों से देखने को तैयार रहना चाहिए कि कोई व्यक्ति

अमीरी न रख सकेगा, बेटे-पोतों के लिए दौलत छोड़कर मरना किसी के लिए भी संभव न होगा। अन्य दार्शनिक बातों में भले ही साम्यवाद स्वीकार न किया जाए, पर आर्थिक क्षेत्र में सारी दुनिया साम्यवादी सिद्धांतों के ढाँचे में ढल जाएगी।

ऐसी संभावनाओं के रहते अपना बहुमूल्य समय दौलत जमा करने में बर्बाद करना पहले सिरे की मूर्खता ही सिद्ध हो सकती है। धन-अनीति से कमाया जाए और वह फिर बेरहमी से छिन जाए तो रोने-कलपने के अतिरिक्त उस विडंबना से और क्या हाथ लगने वाला है ? अस्तु उचित यही है कि हर विवेकवान्, दूरदर्शी व्यक्ति निर्वाह के स्वल्प-साधनों की व्यवस्था बनाकर उतने भर से संतुष्ट हो रहे और समय से लेकर प्रतिभा तक, आकांक्षाओं से लेकर संपदा तक जो कुछ भी साधन-सामग्री पास है, उसका अधिकाधिक अंश लोक मंगल के लिए देकर-जन मानस के परिष्कार के लिए, पूरी श्रद्धा और तत्परता के साथ जुट जाएँ।

आज लोभ और स्वार्थ की अहंता और ममता की हवा बह रही है, पर यह हवा मात्र है। कुछ अग्रगामी लोग आगे आएँ तो दूसरी तरफ की हवा भी चला सकते हैं। बुद्ध के अनुयायियों ने उत्सर्ग की हवा बहाई तो लाखों युवक, युवती, यौवन और वैभव का सुख छोड़कर परमार्थ प्रयोजन के लिए भिक्षु-भिक्षुणी का कष्ट साध्य जीवन जीने के लिए तत्पर हो गये। गांधी की आँधी चली तो आवश्यक कामों और रंगीन सपनों को पैरों तले कुचलते हुए लाखों मनस्वी जेल यातनाएँ और फाँसी, गोली खाने के लिए चल पड़े। हवा स्वार्थ की भी हो सकती है, परमार्थ की भी। स्वार्थ के कोल्हू में जिस बुरी तरह पिलाई-पिसाई होती है, परमार्थ की रीति-नीति उससे कुछ सरल, सस्ती ही पड़ती है। लोग समझते भर हैं कि वे संकीर्ण स्वार्थ सिद्धि में लगे हुए सुखी हैं, वस्तुतः परमार्थ के लिए उतना श्रम किया जाए और कष्ट सहा जाए तो व्यक्ति सौ गुना अधिक संतोष और गर्व-गौरव प्राप्त कर सकता है। सोचने का ढर्रा भर ही है, जो मनुष्य की गतिविधियों को जकड़े बैठा रहता है। यदि

उस ढर्रे में आदर्शवादिता का थोड़ा-सा पुट जुड़ जाए तो मनुष्य वाल्मीकि डाकू से संत वाल्मीकि बनने की प्रक्रिया मिनटों में चरितार्थ करके रख दे। हमें ऐसा ही वातावरण पैदा करना चाहिए कि विवेकशील लोग संकीर्ण स्वार्थपरता की जंजीरें तोड़कर लोक-मंगल के परमार्थ प्रयोजन अपनाते हुए दिखाई देने लगें।

नव निर्माण के लिए विवेकशील प्रतिभाओं की बड़ी संख्या में आवश्यकता पड़ेगी। इस अभाव की पूर्ति हमें साहसिक आदर्शवादिता की प्रेरणा को प्रखर बनाकर करना चाहिए। अपने परिवार के हर व्यक्ति को एक घंटा समय और दस पैसा ज्ञान-यज्ञ के लिए नियमित रूप से देने की प्रेरणा देकर हम लोक मानस में इसी सत्प्रवृत्ति के बीज बो रहे हैं। जब यह अंकुरित होंगे, फलेंगे-फूलेंगे तो एक से एक बढ़कर प्रखर व्यक्तित्व युग की चुनौती स्वीकार करने के लिए उत्सर्ग के पथ पर अग्रसर होते दिखाई पड़ेंगे। ढलती आयु के लोगों को बड़े बच्चे स्वावलंबी बनाने और छोटे बच्चे उनके जिम्मे छोड़कर वानप्रस्थ की धर्म परंपरा अंगीकार करनी चाहिए। सादा जीवन जिएँ और थोड़ी देखभाल घर की करें और शेष समाज सेवा के लिए लगाएँ, यही वानप्रस्थ परंपरा है। यदि यह फिर सजीव हो उठे तो समाज को लाखों अनुभव और परिपक्व बुद्धि के प्रभावशाली कार्यकर्ता अवैतनिक रूप से मिल सकते हैं और नव निर्माण की आवश्यकता पूर्ति में भारी सहायता मिल सकती है।

जिसके पास इतनी संचित संपत्ति है कि उसके ब्याज-भाड़े से काम चल सकता हो, पर उन्हें अधिक उपार्जन का लालच छोड़कर परमार्थ प्रयोजन में ही लगना चाहिए। पेन्शनर, प्रोवीडेंट फंड प्राप्तकर्ता—मकान और जमीन के मालिक, इन साधनों को अपने निर्वाह में खर्च कर डालें, यह न सोचें कि जो जमा पूँजी है; उसे बेटे, पोतों या संबंधी, रिश्तेदारों को देकर जाएँगे और मरते दम तक अपनी हड्डी घिसते रहेंगे। यह लालच और मोह किसी व्यक्ति की मनोभूमि की क्षुद्रता ही सिद्ध करेगा, भले ही वह पाठ-पूजा की लकीर पीटकर अपने बारे में ऊँचे बातें सोचने लगे हों। हमें अध्यात्म की विडंबना से

संतुष्ट नहीं होना चाहिए, वरन् व्यवहारिक जीवन में आध्यात्मिक आचरण का प्रयोग करना चाहिए। यह लालच और ममता को घटाने और परमार्थ प्रायोजनों में तत्पर होने से ही संभव हो सकता है।

जिन परिवारों में कई भाई कमाते हैं, वे एक भाई का खर्च मिल-बाँटकर अपने जिम्मे ले लें और उसे लोक मंगल के लिए काम करने दें। नौकरी करने वाली महिलाएँ स्वयं घर खर्च चलाएँ और अपने पतियों को समाज सेवा का काम करने दें। जिन्हें अपनी वासना पर नियंत्रण हो और बिना विवाह काम चला सकते हों, वे लोक सेवा के लिए अपना जीवन दान करके इस झंझट से बच सकते हैं। विवाह अनिवार्य नहीं है। जो नर-नारी उसके बिना रह सकते हों, वे अपने जीवन को अधिक उपयोगी काम के लिए खर्च करने का साहस कर सकें तो उसे प्रशंसनीय ही कहा जाएगा। ऐसे भी दंपत्ति हो सकते हैं, जो बच्चे पैदा न करें और दोनों मिलकर लोक-मंगल के महान् प्रयोजन में कंधे से कंधा मिलाकर जुटे रहें। जिनकी आमदनी पर्याप्त है, वे लोकसेवी कार्यकर्ताओं का निर्वाह खर्च अपने जिम्मे लेकर उन्हें सेवा करने की सुविधा दे सकते हैं। छुट्टी का दिन तथा नित्य के समय में से थोड़ा समय देकर कार्यव्यस्त लोग भी परमार्थ प्रयोजनों के लिए कुछ समय दान नियमित रूप से करते रह सकते हैं।

आज के व्यक्ति का सारा समय उचित आवश्यकताओं की पूर्ति में ही नहीं लगता, उसे तो कम समय में भी पूरा किया जा सकता है।

# अंतःकरणों का मर्म स्थल अपनी दिशा बदले

मनुष्य की अपनी अभिलाषाओं और आकांक्षाओं में मूलतः उसकी प्रेरक प्रवृत्तियाँ सन्निहित हैं। इच्छाओं का उफान जिस दिशा में उमड़ता है उसी ओर मस्तिष्क चल पड़ता है। सोचने का ढर्रा उसी पटरी पर लुढ़कता है और बुद्धि उसी स्तर के साधन सरंजाम जुटाने का ताना-बाना बुनने लगती है। शरीर की क्रियाएँ उसी दायरे में अग्रसर होती हैं और साधन, सहयोग, वातावरण उसी प्रकार के जुटने आरंभ हो जाते हैं। अपने बनाये जाले में मकड़ी पूरी तरह फँस जाती है। मनुष्य अपनी इच्छाओं द्वारा विनिर्मित परिस्थितियों के जाल-जंजाल में जकड़ा रहता है। उसे इतना शारीरिक एवं मानसिक अवकाश ही नहीं मिलता कि जीवनोद्देश्य की दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ा सकें।

आकांक्षाओं का महत्त्व समझा जाना चाहिए और उनकी दिशा निर्धारण करने के संबंध में समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए। मानवीय सुख-शांति और सामाजिक प्रगति की कुंजी यहीं छिपी पड़ी है। पिछले अंधकार युग में हुए वैयक्तिक अधःपतन और सामाजिक दुर्गति का यदि तात्त्विक लेखा-जोखा लिया जाए तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि लोगों के सोचने का स्तर घटिया बन गया और उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ संकीर्ण प्रयोजनों में अटककर विकृतियाँ ही विकृतियाँ पैदा करती रह गईं।

व्यक्ति यदि जीवनोद्देश्य को समझे, उसे पूरे करने की आकांक्षा जाग्रत् करे तो हर स्थिति का व्यक्ति आदर्शवादिता की दिशा में काफी दूर तक चल सकने का अवसर प्राप्त कर सकता है। इच्छाएँ—सोचने को प्रेरित करती हैं और मस्तिष्क वह जादू का पिटारा है कि जिधर चलेगा उसी प्रकार के साधन और अवसर प्राप्त कर लेगा। यदि विलासी और संग्रही बनने की अभिरुचि भड़क उठे तो व्यक्ति उन्हीं के लिए अहर्निश सोचेगा और करेगा। पिछले दिनों यही होता रहा है। व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थों की परिधि में ही अपने को सीमाबद्ध रखता रहा

है और लोभ, मोह को परमप्रिय विषय बनाये बैठा रहा है और काम, क्रोध की आग बुझाने के सरंजाम इकट्ठे करता रहा है। यह प्रवृत्तियाँ केवल नर-पशु जैसा जीवन-क्रम ही प्रदान कर सकती हैं। यह लालसाएँ जब भड़कती हैं तो अपनी उग्रता के कारण मानवीय मर्यादाओं को तोड़-फोड़कर रख देती हैं। नैतिकता का कोई मूल्य उस प्रवाह के सम्मुख टिक नहीं पाता। किसी भी प्रकार अपनी हवस पूरी करने की उतावली इतनी बेचैनी उत्पन्न करती है कि नीति और सदाचार—न्याय और औचित्य का ध्यान ही नहीं रहता। तृष्णाओं से संत्रस्त, वासनाओं से पीड़ित, अहंकार से उन्मत्त व्यक्ति जो कुछ भी न कर डाले वही कम है। पाप और अपराध करने का दुस्साहस इसी आवेग एवं आक्रोश में किया जाता है। यदि व्यक्ति का आकांक्षा केंद्र तृष्णाओं और वासनाओं की परिधि में सीमित हो गया है और इन चिनगारियों को लगातार पोषण मिलता रहा है तो क्रमशः उनकी उग्रता बढ़ती चली जायेगी और उन्हें पूरी करने के लिए अनैतिक आचरण अपनाने का लोभ संवरण न किया जा सकेगा। हवस का मारा व्यक्ति जो भी कर बैठे कम है।

इच्छाओं का केंद्र यदि पशु-प्रवृत्ति से भरा रहे और मनुष्य अपने शारीरिक सुखों को पाने, अहंकार को सँजोने और लालच को बढ़ाने में लगा रहे तो उस संदर्भ में कुछ भी अनर्थ करने में तत्पर हो सकता है। अनर्थ न भी करे तो अपनी उसी उधेड़-बुन में शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से इतना व्यस्त तो रहेगा ही कि उत्कृष्टता की दिशा में कुछ सोचने या करने के लिए उसे अवसर ही न मिले, यह भी एक बड़ी हानि है। कूकर-शूकरों की तरह यदि मनुष्य जीवन को यों ही पेट और प्रजनन के लिए बरबाद कर दिया जाए तो मानवीय गौरव की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ी क्षति ही कही जाएगी। इस स्तर के नागरिक जिस देश समाज के होंगे, वह निरंतर दुर्बल होता चला जाएगा। व्यक्तित्वों का निखार और उत्कर्ष आदर्शवादी विचारणा और कार्य पद्धति पर निर्भर है। जो लोग नीचा सोचते और ओछा करते हैं, वे संपन्नता एकत्रित कर लेने पर भी किसी की या अपनी आँखों में अपनी इज्जत

अक्षुण्य नहीं रख सकते। कोई बड़ा काम नहीं कर सकते और मूर्धन्य, प्रामाणिक एवं गणमान्य लोगों की पंक्ति में नहीं बैठ सकते। धन, शिक्षा, कला, कौशल, स्वास्थ्य, सौंदर्य में कुछ प्रगति कर लेने पर भी उनके व्यक्तित्व निखर न सकेंगे और उनमें आत्मबल की न्यूनता ही बनी रहेगी। ऐसे व्यक्ति स्वयं अशांत रहते हैं—संबद्ध समीपवर्ती लोगों को विक्षुब्ध करते हैं और जहाँ रहते हैं, वहीं अवांछनीय प्रवृत्तियाँ पैदा करते हैं। व्यक्तिगत रूप से वे कुछ सफलताएँ प्राप्त भी कर लें तो वे अपनी ऐसी उपयोगिता या महत्ता सिद्ध नहीं कर सकते, जिनके आधार पर राष्ट्र या समाज को बल मिले।

समाज व्यक्तियों का समूह ही तो है। राष्ट्र प्रजाजनों की सम्मिलित क्षमता का ही नाम है। जहाँ जैसे नागरिक होंगे, वहाँ की सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थितियाँ वैसी ही बन जाएँगी। अस्तु, यदि सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रगति की बात सोचनी हो तो सबसे अधिक ध्यान नागरिकों के व्यक्तित्व का निर्माण करने की दिशा में दिया जाना चाहिए। इसके बिना बालू की दीवार की तरह निर्माण के लिए किये गये सारे प्रयत्न बात की बात में ढह जाएँगे। दुर्बल चरित्र और निकृष्ट मनोवृत्ति के मनुष्य कोई ऊँचा काम कर सकना तो दूर अपने पैरों आप खड़े नहीं रह सकते और जिनके साथ रहते हैं, उन्हें चैन से नहीं रहने दे सकते। जो स्वयं ही समस्या बने हुए हैं, वे दूसरों की समस्याएँ क्या हल करेंगे ? जो स्वयं खड़े नहीं रह सकते, वे राष्ट्र को क्या उठाएँगे ? जिनका मुँह खुद ही काला हो रहा है, वे देश का मुख उज्ज्वल कैसे करेंगे ? व्यक्तित्वों को सही बनाया जाना और ऊँचा उठाया जाना, सामूहिक प्रगति और विश्व शांति के लिए नितांत आवश्यक है। यह व्यक्ति निर्माण कार्य—धन के अभिवर्धन, सुविधाओं के आधिक्य, शिक्षा के बाहुल्य—शरीर के परिपोषण अथवा पदवी प्राप्त करने के आधार पर नहीं—मनोवृत्ति की उत्कृष्टता के आधार पर संभव होता है। गुण, कर्म, स्वभाव जितने परिष्कृत होंगे व्यक्ति उतना ही समुन्नत माना जाएगा।

यह विशेषताएँ अनायास ही नहीं उपज पड़तीं, इनके मूल में उत्कृष्ट अभिलाषा एवं प्रखर अभिरुचि की आवश्यकता होती है। चाहने को तो लोग न जाने क्या-क्या चाहते रहते हैं ? सोचने को तो न जाने क्या-क्या सोचते रहते हैं ? पर उन्हें शेखचिल्ली के सपने मात्र ही कहा जा सकता है। कामनाओं और कल्पनाओं से दिल बहलाया जा सकता है, पर प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। दुनिया में ऐसा कोई कल्पवृक्ष नहीं, जिसके नीचे बैठकर पलक मारते मनोकामनाएँ पूरी की जा सकें। प्रगति का पथ अति कठोर और अति संघर्षमय है। उस पर केवल साहसी, धैर्यवान् और मनस्वी ही चल सकते हैं। जो जरा-सी सुविधा मिलने पर अहंकार से उन्मत्त हो उठते हैं और जरा-सी असफलता मिलने या कठिनाई आने पर निराशा के गर्त में गिरकर सिर धुनने और रोने-चिल्लाने लगते हैं, वे अध-पगले लोग न तो जीवन का स्वरूप समझते हैं न उसका मूल्य महत्त्व। जीवन-संघर्ष का ही दूसरा नाम है। प्रगति प्रबल प्रयत्नों पर निर्भर है। सफलताओं की बैजंती पुरुषार्थी ही पहनते हैं। मुसीबतों में हँसते रहते और सघन अंधकार में उज्ज्वल भविष्य की आशा किरणें ढूँढ़ना, जिनकी प्रकृति में सम्मिलित हैं उन्हीं को सच्चे अर्थों में प्रतिभाशाली प्रखर व्यक्तित्व संपन्न कहा जा सकता है। ऐसे ही लोगों का जीना सार्थक है। दूसरे तो धरती पर बोझ बढ़ाने के लिए मात्र जीते भर हैं।

विकासवान् व्यक्तित्व की आधारशिला मनुष्य की आंतरिक अभिलाषाओं और आकांक्षाओं के ऊपर निर्भर रहती है। वस्तुतः यही केंद्रबिंदु वह सार तत्त्व है, जिसे अहम्—ईगो—व्यक्तित्व या अध्यात्म कहते हैं। मनुष्य वस्तुतः क्या है ? यदि उसकी असलियत परखनी हो, तो उसके अंतरंग में घुसकर यह ढूँढ़ना होगा कि वह सचमुच चाहता क्या है ? सामाजिक दबाव या लोक-लाज के कारण बहुधा बाहर से वह प्रदर्शित किया जाता है, वह कहा जाता है, जो सामाजिक सम्मान बनाये रहे। वास्तविक इच्छाएँ कई बार इस बाह्य प्रदर्शन से सर्वथा प्रतिकूल होती हैं। कथनी और करनी का अंतर अक्सर नेताओं, धर्म-ध्वजियों और दूसरे ख्यातिनामा व्यक्तियों में देखा जाता है, वे

आदर्शों और सिद्धांतों की लंबी-चौड़ी डींगें हाँकते और लच्छेदार प्रवचन करते देखे जाते हैं, पर जब उनकी मनोदशा तथा करतूतों का नग्न स्वरूप छन-छनकर बाहर आता है तो उस सड़े मवाद की दुर्गंध से नाक फटने लगती है। कथनी और करनी का यह जमीन-आसमान जैसा अंतर यह बताता है कि बाहर से आदमी कुछ भी कहता बताता रहे असल में वह वही रहेगा, जो स्वरूप अंतरंग में विनिर्मित किये बैठा है। यह अंतरंग की अभिलाषाएँ ही जीवन का सार तत्त्व हैं। इसी बीज के अनुरूप परिस्थितियों के अंकुर उगते और साधनों के पत्ते जुटते हैं और उन्हीं के अनुरूप क्रिया-कलापों के पुष्प और परिणामों के फल सामने आकर उपस्थित हो जाते हैं। एक शब्द में यो कह सकते हैं कि आंतरिक अभिलाषाएँ ही जीवन का सर्वस्व हैं। वे जिधर बहेंगी उधर ही मन, शरीर, कर्तृत्व और वातावरण सहज ही बढ़ता-ढलता चला जाएगा। इस प्रवाह के आगे कोई अवरोध ठहर नहीं सकता। समस्त प्रतिकूलताओं को चीरता हुआ वह प्रवाह अपने लिए रास्ता बना लेता है और उन साधनों को प्राप्त कर लेता है, उन स्थानों तक पहुँच जाता है, जिनकी कि प्रारंभिक स्थिति में कल्पना कर सकना भी कठिन था।

नृतत्व विज्ञान को हमें इसलिए समझना चाहिए कि युग-निर्माण आंदोलन इसी मर्मस्थल को छूता है। उसका आरंभ यहीं से होता है। हम साधनों का निर्माण करने नहीं चले हैं, क्योंकि अपनी दृष्टि में वे बार-बार झड़ने-उगने वाले पत्र, पल्लव मात्र हैं। निकृष्ट मनोभूमि के रहते अच्छी से अच्छी परिस्थितियाँ निरर्थक सिद्ध होती हैं और देखते-देखते पलायन कर जाती हैं, इसके विपरीत उत्कृष्ट मनोभूमि गई-गुजरी परिस्थितियों में भी आनंद, उल्लास का बाहुल्य अनुभव करती है और क्रमशः अनुकूल साधनों को जुटाती चली जाती है। अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ प्रजा की भौतिक सुविधाएँ बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं। अपना उनसे कुछ विरोध नहीं—वह सब भी चलते ही रहना चाहिए। पर उनकी इस मान्यता की हमें तनिक भी आवश्यकता नहीं कि, व्यक्ति की अंतरंग उत्कृष्टता नहीं बढ़ाई जानी चाहिए। इसके बिना कुबेर जैसी संपन्नता और रावण जैसी समृद्धि भी दो कौड़ी

की सिद्ध होगी। हम यह नहीं मानते कि संपन्नता बढ़ने से आंतरिक उत्कृष्टता बढ़ती है। यदि ऐसा होता तो आज के श्रीमंत लोक भावनात्मक दृष्टि से महामानवों जैसे होते और उनके कर्तृत्व लोक-मंगल की समस्त आवश्यकताओं को सहज ही पूरा कर सकते हैं। वह गरीब समझे जाने वाले संत और ऋषि असहाय और निरर्थक सिद्ध हुए होते, पर होता इससे बिलकुल विपरीत है। साधनहीन व्यक्ति संसार की महानतम सेवाएँ कर सके, इसका इतिहास का पन्ना-पन्ना साक्षी देता है और संपन्न राजा-रईसों, अमीर-उपरावों ने कितने घृणित उदाहरण प्रस्तुत किये, इसकी मर्मभेदी कथा-गाथा पर भी देर तक पर्दा नहीं डाला जा सकता। चाटुकारों की प्रशंसा-निंदा उड़ती हुई बदली की तरह है। मान पत्र अभिनंदन ग्रंथ किसी की महत्ता को नहीं बढ़ाते, वरन् उलटे उपहासास्पद बनाते हैं। असलियत सात पर्दे फाड़कर झाँकती है। व्यक्ति का अंतरंग जैसा कुछ होगा उसी स्तर की प्रबल प्रेरणाएँ उठती रहेंगी और जीवन उसी दिशा में अग्रसर होता चला जाएगा।

नृतत्व विज्ञान के यह तत्त्व हमें बताते हैं कि विश्व शांति के लिए, राष्ट्रों के विकास के लिए व्यक्तित्वों के विकास अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। व्यक्तित्व-आकांक्षा के आधार पर विकसित होते हैं। अंतरंग की ललक ही जीवन दिशा का निर्धारण करती है। इसलिए हमें जन-इच्छाओं को परिष्कृत करने की दिशा में सारा ध्यान केंद्रित कर प्रयत्नों को समवेत करना चाहिए। आज का मनुष्य बाहर से कुछ भी बकता या बनता हो, भीतर से बहुत ही लोभी, स्वार्थी, संकीर्ण, अनुदार और कामुक प्रवृत्ति का बन गया है। यदि पोस्टमार्टम करते चलें तो भावना शरीर का शवच्छेद लगभग एक ही प्रकार का निष्कर्ष प्रस्तुत करेगा। हर आदमी अमीरी के आधार पर विलासिता, कामुकता और अहंमन्यता का मजा उठाने के लिए व्याकुल है। उसे ऐश चाहिए, शान-शौकत चाहिए, वाहवाही चाहिए, इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं चाहिए। यह चीजें उसे अति विशाल मात्रा में और अति शीघ्र चाहिए, इसलिए उचित-अनुचित के झगड़े में पड़ने की भी उसे फुरसत

नहीं। अनुचित रीति से अन्याय- पूर्वक यदि अमीरी तथा उसके साथ जुड़ी-सुविधाएँ उसे मिलती हैं तो उसे इसमें जरा भी ऐतराज नहीं। यों घर-गृहस्थी भी उसके साथ है, इसलिए अपनी विलासिता में उन्हें भी मजबूरी से शामिल करना पड़ता है। कमाते हुए जो जमा हो जाता है, उसे न तो लोक-मंगल के लिए दान करने जैसा छाती पर पत्थर बाँधा जा सकता है और न फेंका जा सकता है। ऐसी दशा में एक ही रास्ता बच जाता है कि मरते-मरते जो बच जाए उसे बेटे, पोते, साले, जँवाई खायें, बँटवारे के लिए एक-दूसरे का सिर फोड़ें और उस हराम की कमाई को बेरहमी के साथ फूकें। इसी धुरी पर आज के व्यक्ति का सारा जीवन क्रम घूम रहा है। काम करने के तरीके अलग हो सकते हैं, पर मनोदशा का प्रवाह एक ही दिशा में है। तृष्णा और वासना, लोभ तथा मोह इन चारों को ही हर किसी ने अपना जिगरी दोस्त मान लिया है। पाँचवे के लिए वहाँ गुंजायश नहीं।

यों लोग परमार्थ और पूजा-पाठ की चिह्न पूजा करते भी देखे जाते हैं, पर उनकी असलियत को जब परखा जाता है तब हँसी रोके नहीं रुकती। परमार्थ का मतलब सिर्फ इतना रह गया है कि लोग किसी दुष्ट-दुरात्मा को धर्मात्मा या उदार समझने के भुलावे में डाले जा सकें। इस भुलावे के लिए जितनी कुछ विज्ञापन बाजी की जा सकती हो उसी धूर्तता का नाम परमार्थ है। तथाकथित "पुण्य" करने से पूर्व मनुष्य हजार बार सोचता है कि कम से कम खर्च में बड़े से बड़ा धर्मात्मा समझा जाने की तरीकीब क्या हो सकती है ? जो तरकीब ज्यादा उपयोगी दीखती है, उसी को अपनाया जाता है। बिना विज्ञापन कराये कोई एक कौड़ी या एक घड़ी खर्च करना नहीं चाहता। निरर्थक, निकम्मी, निष्प्रयोजन इमारतें रोज बनती चली जाती हैं; किसी का नाम मंदिर, किसी का धर्मशाला, किसी का क्या, किसी का क्या रखा होता है ? उनके ऊपर लगे कीर्ति बोधक पत्थर लाला जी की धर्म-ध्वजा फहराते हैं। यह कोई नहीं सोचता कि इनसे क्या वस्तुतः कुछ लाभ होगा ? तीर्थ-यात्रा, ब्रह्म भोज, कीर्तन, कथा, भागवत कराने वालों, बंदरों को लड्डू खिलाने वालों के मनों को चीरकर देखा

जाए तो एक ही चीज मिलेगी कि देखने वाले उन महाशय को धर्मात्मा समझें। संस्थाओं को दान देते हुए, उनके पदाधिकारी बनते हुए चुनावों में खड़े होते हुए लोग इन्हीं कामनाओं में सिर से पैर तक डूबे पाये जाते हैं। बेचारे परमार्थ का पल्ला जरूर पकड़ते हैं, पर वह गरीब रोकर रह जाता है और सोचता है, यदि मुझे बदनाम न किया जाता और इस घृणित रूप में प्रस्तुत न किया जाता तो ज्यादा अच्छा होता।

पूजा-पाठ की दुर्दशा देखकर तो रोना आता है। हर व्यक्ति लंबे-चौड़े भौतिक लोभों की कामना सँजोकर बेमन से थोड़ी-सी टंटघंट करता है और पल-पल पर अति बेचैनी के साथ यह देखता है कि मनोकामना पूर्ण होने में अब कितने मिनट और लगेंगे ? यह कोई प्रश्न नहीं कि मनोकामना अपनी योग्यता और मेहनत के अनुरूप माँगी जा रही है या नहीं। यह कोई प्रश्न नहीं कि मनोकामना नैतिक है या अनैतिक। देवता को रोली, चावल, धूप, दीप, फूल, प्रसाद खा लेने के बाद यह अधिकार कहाँ रह जाता है कि भक्त की मनोकामना पूर्ण करने में देर करे ? यदि देर होती है तो देवता की खैर नहीं, और पूजा-पाठ के जंजाल में कोई क्यों समय खराब करे ? इसकी किसी को कोई गरज नहीं। यदि देवता दिव्य भावना ही देते हों तो वे अपने लोक को चले जाएँ और किसी के रोली-चावल खाने की जुर्रत न करें और प्रशंसा सुनने या नाम जपाने का लोभ संवरण करके चुपचाप अपने घर चले जाएँ। यहाँ हर आदमी को पैसा चाहिए, विलासिता चाहिए, बीबी, बेटा चाहिए, पदवी चाहिए—आत्म-कल्याण कहने-सुनने भर के लिए ठीक है, पर वस्तुतः वैसी निरर्थक वस्तु से किसी को क्या लेना-देना ? पूजा का अर्थ मनोकामना की पूर्ति यदि नहीं हो सकती तो आज का व्यक्ति उस जंजाल को दूर से ही नमस्कार करेगा, उपहास करेगा और नास्तिक रहना अच्छा समझेगा। जो पूजा करता है उसकी मनोभूमि उसी घटिया स्तर की पाई जा सकती है। यह देवत्व का अवतरण अपने व्यक्तित्व में करने के लिए साधना कर रहा होगा। यह सोचना आज की स्थिति में दिवा स्वप्न देखने के ही बराबर है।

जब परमार्थ का ढोल पीटने वालों और पूजा का ढोंग रचने वालों, जन नेतृत्व का दावा करने वालों और मूर्धन्य स्थानों पर जमे हुए लोगों की कथनी और करनी में इतना अंतर है—मनोभूमि की यह दयनीय दुर्दशा हैं, तो उस सामान्य व्यक्ति के बारे में क्या कहा जाए, जो केवल पेट पालने और प्रजनन की प्रवंचना से आगे की कुछ बात सोचता ही नहीं ? इससे अधिक कुछ करने का जिसका मन नहीं है, उससे तो नर-पशु के क्रियाकलाप से अधिक की आशा क्या की जा सकती है ? इसी को कहते हैं कि लोक-मानस का अपवाद। मनुष्य ने यदि आदर्शवादिता और उत्कृष्टता को तिलांजलि दे दी तो वह फिर नर-पशु मात्र ही शेष रह गया। अमीरी, विद्वता, शरीर शोभा, चातुर्य, कला-कौशल, सत्ता आदि संपदाएँ प्राप्त कर लेना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है, यह कई बार बिना पुरुषार्थ अंधे के हाथ बटेर की तरह उत्तराधिकार में अथवा भाग्यवश भी मिल जाती हैं। मानवीय गौरव उसकी सद्भावसंपन्न विचारणा और अनुकरणीय सत्प्रवृत्तियों पर निर्भर है। महामानवों और नर-रत्नों का मार्ग जिसने अपनाया उसी का जीवन धन्य है। आत्म शांति केवल उसी को मिलेगी और लोक श्रद्धा का भाजन अनंत काल तक वही रहेगा। ईश्वर के सम्मुख अपनी सफेद चादर लेकर ऐसे ही लोग जा सकते हैं। मनुष्य जीवन कितना बड़ा ईश्वरीय अनुदान है ? इसका अनुभव केवल वे ही कर सकते हैं जिन्होंने मानवीय आदर्शों को प्रमुखता दी और अनेक विघ्न-बाधाओं के रहते—गरीबी और उपहास का कष्ट पग-पग पर सहते हुए जिसने अपने गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता का समावेश किया और कर्तृत्व में महानता भर ली, उसी विभूतिवान् को सराहा जाएगा। उसी का नर तन धारण सार्थक माना जाएगा।

यह सब कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर एक ही है कि अंतरंग की आकांक्षा के मर्मस्थल में आदर्शवादिता की उमंग पैदा की जाए। यह मनन, चिंतन, स्वाध्याय, सत्संग और प्रेरणाप्रद वातावरण के संपर्क में रहने से संभव हो सकता है। इन साधनों की सुविधा सर्व साधारण

को मिल सके, इसके लिए हमें सामर्थ्य भर प्रयत्न करने चाहिए। शिक्षा और कला में उन तत्त्वों का समावेश करना चाहिए। जो मानवीय अंतःकरण के मर्मस्थल को छूकर उसकी आकांक्षाओं को निकृष्टता की स्तर से उबारकर उत्कृष्टता की भूमिका में उभरने का प्रकाश, प्रोत्साहन और साहस प्राप्त कर सकें। यही एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर व्यक्ति मनुष्यता के महान् गौरव की रक्षा कर सकने योग्य गतिविधियों का निर्धारण कर सकता है।

अंतरंग में मानवता को गौरवान्वित करने वाली रीति-नीति और कार्य-पद्धति अपनाने की आकांक्षा जगे और उमंग उठे तो मन, मस्तिष्क, समय, श्रम सभी उस दिशा में मुड़ चले और साधन, सुविधा, परिस्थिति, सहयोग आदि के सारे सरंजाम उसी स्तर के सहज ही जुटने लगें। जो लोग निंदा, व्यंग्य, उपहास, लांछना एवं अवरोध उत्पन्न करने में लगे हुए हैं, वे कल अपनी हार मान लें और पत्थर से सिर फोड़ना छोड़कर उस अतिमानवी साहस के चरणों पर श्रद्धा के सुमन बिछाने लगें। इतिहास यही बताता है कि महानता के पथ पर कदम बढ़ाने वालों का सबसे अधिक विरोध उनके तथाकथित कुटुंबियों, संबंधियों और मित्रों ने ही किया है। उन्हें लगता है कि श्रेष्ठता की दिशा में चलने वाले का मन, श्रम और धन कुछ न कुछ उन कार्यों में लगेगा, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विश्व मानव की सर्वांगीण प्रगति में आश्चर्यजनक सहायता कर सके। व्यक्ति जब अपनी मनोदशा और गतिविधियाँ परिष्कृत स्तर की बना लेता है तो उसका प्रत्येक कर्तृत्व न केवल उसकी सुख-शांति और प्रगति में सहायक होता है, वरन् देश, धर्म, समाज, संस्कृति और विश्व-शांति के लिए हर प्रकार से उपयोगी सिद्ध होता है।

जो अपने को आकांक्षाओं, वासना, तृष्णा लोभ और मोह के जंजाल से निकाल लेता है—लोकैषणा-पुत्रैषणा-वित्तैषणा की पिशाचों से पल्ला छुड़ा लेता है तो जीवन निर्वाह के लिए उसे बहुत हाथ-पैर नहीं पीटने पड़ते, न बहुत सिर खपाना पड़ता। सारी हाय-हाय, चिंता, उद्विग्नता, बेचैनी और खीज, बात की बात में शांत समाप्त हो जाती

है। जीवन-यापन की वास्तविक आवश्यकताएँ वस्तुतः बहुत स्वल्प हैं। आधा सेर अनाज, दस गज कपड़ा, एक चारपाई, छोटा बिस्तर, रहने की छाया जितनी सामग्री जुटाने के लिए किसी को बहुत समय लगा दे और अहर्निश कोल्हू के बैल की तरह जुटे रहने या अशांत उद्विग्न रहने की जरूरत नहीं पड़ती। शरीर की आवश्यकताएँ स्वल्प हैं। तीन फुट के दो हाथ—छह इंच की उदर स्थली को आसानी से भर सकते हैं। मस्तिष्क में इतनी बुद्धि जानवर को भी मिली होती है कि ऋतु प्रभाव से बचने के लिए निवास आदि की सुविधा उत्पन्न कर ले।

इस प्रकार महत्त्वाकांक्षाओं को तृष्णा, वासना, लोभ और मोह के पाप-पिशाचों से बचाकर लोक मंगल के लिए बड़े से बड़ा त्याग-बलिदान, पुरुषार्थ और अनुदान देने में लगाया जा सके तो सामान्य स्तर का मनुष्य भी धीरे-धीरे इतने अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करता रह सकता है कि उसका लेखा-जोखा तथाकथित संत-महात्माओं से हजारों गुना अधिक आगे निकल जाए। जब मनुष्य लेने की लिप्सा में डूबा रहता है तो उसे अपने चारों ओर अभाव और दारिद्रय ही घिरा दीखता है, पर जब वह अपनी मनोदशा देने में रस लेने वाली बना लेता है तो धन न रहते हुए भी अपनी शारीरिक, मानसिक संपदाएँ इतनी बहुमूल्य दीखने लगती हैं, जिनके आधार पर लोक मंगल के लिए बहुत कुछ किया जा सकना संभव हो सके। वस्तुतः मानव जाति की ठोस और महत्त्वपूर्ण सेवाएँ भावनात्मक समर्थता द्वारा ही संभव हुई हैं। धनी अपना ढिंढोरा पिटवाने का ताना-बाना बुनने में ही उलझते-सुलझते मर गये, वे कुछ कहने लायक काम न कर सके। बड़े काम न धन से होते हैं और न साधनों से, उनके लिए प्रचंड अंतःप्रेरणा और भाव भरी उमंग आवश्यक होती हैं, उसे उपलब्ध करना केवल उनके लिए संभव है, जिन्होंने विविध ऐषणाओं से अपना पल्ला छुड़ा लिया और विश्व मानव के चरणों में आदर्शवादिता-उत्कृष्टता के, त्याग और बलिदान के श्रद्धा सुमन चढ़ाने का साहस और मनोबल एकत्रित कर लिया।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)